॥ श्रीहरिः ॥ 571

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

विशिष्ट संस्करण

गीताप्रेस, गोरखपुर
GITA PRESS, GORAKHPUR

कुछ व्रजसुन्दरियाँ व्रजरानीसे कह रही हैं—

तुम जो मनावत, सोइ दिन आयौ।
अपनौ बोल करौ किन जसुमति, लाल घुटरुवन धायौ॥

तबसे वसन्त प्रतिदिन ही श्रीकृष्णकी इस लीलाका दर्शन करता। किंतु अब उसका अधिकार समाप्त हो रहा था। द्वारपर ग्रीष्म प्रतीक्षा कर रहा था। उदास होकर वसन्तने सोचा—आह! पुनः मेरा अधिकार आनेपर भी श्रीकृष्णकी यह रिङ्गणलीला कहाँ देखनेको मिलेगी? ठीक इसी समय श्रीकृष्णके मुखकमलपर मन्द मुसकान छा गयी। बस, वसन्तको मानो उपाय सूझ गया और वह अपनी समस्त सम्पत्ति लिये हुए ही उस मुसकानमें मिलकर तन्मय हो गया।

अब शिरीष-पुष्पोंका मुकुट धारण किये एवं मल्लिका-कुसुमोंकी माला पहने ग्रीष्म आया। परंतु फिर भी उसके अङ्ग जल रहे थे। न जाने कितने कालसे ग्रीष्म जलता ही आया है। इसीलिये उसकी जलन दूसरोंपर भी प्रभाव डालती है। वह जहाँ जाता है, वहीं तापका विस्तार करता है। किंतु इस बार ग्रीष्मने आश्चर्यमें भरकर यह देखा कि व्रज उसके प्रभावसे झुलसा नहीं। उसने अनुभव किया—व्रजपुरकी लता-वल्लरियोंने आज जब मैं आया, तब मेरा स्वागत किया, मेरा अधिकार भी माना, पर वे म्लान नहीं हुईं; सरोवरोंने मेरा उचित आतिथ्य किया, पर वे शुष्क नहीं हुए। वह सोचने लगा—ऐसी विलक्षण सरसता व्रजमें कहाँसे आयी? व्रजपुरके सिवा तो अन्य सभी मेरे अधिकृत देश जल रहे हैं; मथुरेश कंसके मधुवनपर भी इस समय मेरा ही अबाध अधिकार है—वह भी जल रहा है; फिर नन्दव्रजमें ही यह परिवर्तन क्यों है? यह सोचते हुए ही दैवक्रमसे वह नन्दभवनमें जा पहुँचा तथा वहाँ उसने एक विचित्र दृश्य देखा—पाटलपुष्पनिर्मित अवतंस धारण किये कुछ व्रजसुन्दरियाँ मणिस्तम्भोंकी ओटमें छिपकर खड़ी हैं, शान्त रहकर श्रीकृष्णकी चेष्टा देख रही हैं; श्रीकृष्ण घुटुरूँ चलकर द्वारके पास आ गये हैं, पर आगे नहीं जा पा रहे हैं; क्योंकि पद्मरागमणिनिर्मित द्वारकी चौखट धरातलसे एक हाथ ऊँची है, उनका पथ रोके खड़ी है। शिशु श्रीकृष्ण हाथोंसे चेष्टा करते हैं कि चौखटपर चढ़ जाऊँ, चढ़कर उसे पार कर जाऊँ, पर चढ़ नहीं पाते; सारा बल लगाकर चौखट लाँघना चाहते हैं, पर लाँघ सकते नहीं, हारकर वहीं हाथोंको नचा-नचाकर खेलने लग जाते हैं। ओह! कैसी मुनिमनमोहन लीला है! जिन्होंने एक दिन दानमें प्राप्त हुई तीन पद भूमि नापने जाकर दो पदसे ही सारी त्रिलोकी नाप ली थी, तीसरे पदके लिये भूमि नहीं बची थी—इतने बड़े जिनके पद हैं, वे ही आज शिशुका साज साजे द्वारलङ्घनमें असमर्थ दीख पड़ रहे हैं—

छिति नापी त्रिपाद करुनामय, अलि छल दियौ पतार।
देहरी उलँघ सकत नहिं सो प्रभु; खेलत बंद-दुवार॥

ग्रीष्मने व्रजपुरकी सरसताका रहस्य जान लिया। इसके बाद उसने श्रीकृष्णकी अनेकों सरस सुन्दर लीलाएँ और देखीं। कभी देखा—

आनँद प्रेम उमंगि जसोदा, खरी गुपाल खिलावै।
कबहुँक हिलकै-किलकै जननी, मन सुख-सिंधु बढ़ावै॥
दै करताल बजावति गावति, राग अनूप मल्हावै।
कबहुँक पल्लव पानि गहावै, आँगन माँझ रिंगावै॥
सिव-सनकादि, सुकादि, ब्रह्मादिक खोजत अंत न पावै।
गोद लिऐं ताकौं हलरावै, तोतरे बैन बुलावै॥
मोहे सुर, नर, किंनर, मुनिजन, रबि रथ नाहिं चलावै।
मोहि रहीं व्रजकी जुवतीं सब, सूरदास जस गावै॥

कभी देखता—तोरणद्वारके पास व्रजरानीने श्रीकृष्णको लाकर बैठा दिया है। स्वयं कुछ दूरपर गोपिकाओंके साथ खड़ी रहकर उनकी चेष्टा देख रही हैं। वहाँ रत्नघटित अलिन्द (बरामदेके चबूतरे)-पर बकैयाँ चलते हुए श्रीकृष्ण खेल रहे हैं। वहीं उड़ते हुए कपोतोंका एक झुंड आया तथा अलिन्दकी छतसे लगे हुए मणिदण्डोंपर बैठ गया। चबूतरेपर उन पक्षियोंकी स्पष्ट प्रतिच्छाया पड़ने लगी। श्रीकृष्ण उन प्रतिबिम्बोंकी ओर ध्यानसे देखने लगते हैं, मानो सोच रहे हों कि यह क्या वस्तु है। फिर धीरे-धीरे दोनों हाथ एवं जानुओंके बल उनकी ओर चल पड़ते हैं। वहाँ

पहुँचकर दक्षिण हस्तकी अरुण-मृदुल अङ्गुलियोंसे प्रतिबिम्बको पकड़नेकी चेष्टा करते हैं। यह देखते ही व्रज-पुरन्ध्रियोंमें आनन्दका प्रवाह बह जाता है।

कराभ्यां जानुभ्यां लघु लघु चलन् रत्नघटिते
प्रधाणे तत्प्रान्तावरणमणिदण्डेषु वसताम्।
प्रतिच्छाया वीनामरुणमृदुलैरङ्गुलिदलैः
कृतारम्भो धर्त्तुं व्रजपुरपुरन्ध्रीः सुखयति॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

एक दिन उसने देखा—श्रीकृष्ण एवं रामके समस्त अङ्ग आँगनकी धूलिसे सने हैं। इन धूलि-धूसरित अङ्गोंकी अद्भुत शोभा हो रही है। घुटुरूँ चलते हुए वे दोनों बड़ी देरसे खेल रहे हैं। अचानक आगन्तुक गोपिकाओंको देखकर वे डर-से गये; दौड़कर दोनों जननीके पास जा पहुँचे। श्रीरोहिणी एवं व्रजरानी कर्दमलिप्ताङ्ग पुत्रोंको अपने भुजपाशमें बाँधकर हृदयसे लगा लेती हैं; पुत्रवात्सल्यके प्रबल आवेगवश उनके स्तनोंसे अविरल दुग्धधारा क्षरित होने लगती है; दोनों जननियाँ अविलम्ब अपने दोनों पुत्रोंके मुखोंमें स्तन दे देती हैं। मुखमें स्तन लेते समय उनके नये निकले हुए छोटे-छोटे दो-चार दाँत चमक उठते हैं तथा जननीके स्तनामृतका स्पर्श पानेसे मुखपर मन्दहास्य छा जाता है। इस मुग्धस्मित एवं अल्पदशनोंसे समन्वित मुखका सौन्दर्य निहारकर दोनों जननियाँ परमानन्द-सागरमें निमग्न हो जाती हैं—

तन्मातरौ निजसुतौ घृणया स्नुवन्त्यौ
पङ्काङ्गरागरुचिरावुपगुह्य दोर्भ्याम्।
दत्त्वा स्तनं प्रपिबतोः स्म मुखं निरीक्ष्य
मुग्धस्मिताल्पदशनं यमतुः प्रमोदम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ८। २३)

भला, जो अपने श्रीमुखसे उद्घोषित कर चुके हैं—

मृत्युर्धावति मद्भयात् (श्रीमद्भा० ३। २५। ४३)

'महाभयावह मृत्यु मेरे भयसे ही कार्य करता है।'

—उनका कतिपय आगन्तुक गोपवनिताओंसे भयभीत होकर जननीकी गोदमें आश्रय लेना कितना मोहक है! अनन्तैश्वर्यशालिन्! गोलोकविहारिन्! भक्तानुग्रहविग्रह श्रीकृष्णचन्द्र! तुम्हारी ऐसी ऐश्वर्यशून्य लीलाकी बलिहारी है! तुम्हारा यह दुग्धपान धन्य है!

अनुदिन सरवत सुधारस पंचम चिंतामनि-सी धेनु।
सो तजि जसुमति की पय पीवत भक्तनि कौं सुख देनु॥

एक-से-एक बढ़कर सरस एवं आश्चर्यमें भर देनेवाली लीलाएँ ग्रीष्मके सामने प्रकट हो रही थीं तथा वह देख-देखकर मुग्ध हो रहा था। अब उसने देखा कि यशोदारानी श्रीकृष्णको खड़ा होना सिखला रही हैं—

धनि जसुमति बड़भागिनी, लिएँ कान्ह खिलावै।
तनक तनक भुज पकरि कैं, ठाढ़ौ होन सिखावै॥

किंतु आश्चर्य है, अनन्तशक्ति श्रीकृष्णमें अभी यह शक्ति नहीं है कि वे अपने पैरोंपर खड़े हो सकें। अस्तु, उनकी असमर्थता एवं जननी यशोदाकी लालसा देखकर पासमें खड़ी व्रजाङ्गनाएँ श्रीकृष्णको प्रोत्साहन देने जाती हैं, श्रीकृष्णकी भुजा पकड़कर खड़ा होनेको कहती हैं। कैसी भुजा पकड़कर?

जिहिं भुजबल प्रहलाद उबारयौ, हिरनकसिप डर फारे हो।
सो भुज पकरि कहति ब्रजनारी, ठाढ़े होहु लला रे हो!

इसके दो दिन बाद ही ग्रीष्मने देखा कि श्रीकृष्णचन्द्र खड़े होने लगे हैं तथा मैया अब उन्हें चलना सिखला रही हैं—

झुनक स्याम की पैजनियाँ।
जसुमति सुत कौं चलन सिखावति, अँगुरी गहि गहि दोउ जनियाँ॥
स्याम बरन पर पीत झँगुलिया, सीस कुलहिया चौतनियाँ।
जाकौ ब्रह्मा पार न पावत, ताहि खिलावति ग्वालिनियाँ॥

पास खड़े आनन्द-मुग्ध व्रजेश्वर पुत्रकी ओर देख रहे हैं। मैयाकी चेष्टा जब सफल नहीं होती, तब पुत्रको स्पर्श करनेके लोभसे वे स्वयं शिक्षा देने आते हैं—

गहैं अँगुरिया ललन की, नँद चलन सिखावत।
अरबराइ गिरि परत हैं, कर टेकि उठावत॥

पर दो दिन बाद ही मानो जननीकी लालसाने ही उनके पैरोंमें चलनेकी शक्ति भर दी। श्रीकृष्ण जननीकी अँगुली पकड़कर आँगनमें सर्वत्र चलने लगे। अवश्य ही द्वार लाँघनेमें श्रीकृष्णको अत्यन्त कठिनता होती—

भीतर तैं बाहर लौं आवत।
घर-आँगन अति चलत सुगम भए, देहरि पै अँटकावत।
गिरि-गिरि परत, जात नहिं उलँघी, अति स्रम होत नघावत॥

एक दिनके अन्तरसे ही अँगुली छोड़कर स्वतन्त्र भी चलने लगे। पर देहली-लङ्घनका प्रश्न अभी भी उतना ही कठिन है। आगे-आगे श्रीकृष्ण चलते, पीछे-पीछे व्रजरानी आतीं। किंतु जहाँ द्वार आया कि खड़े हो गये। मुसका-मुसकाकर, जननीका अञ्चल पकड़कर पार कर देनेके लिये मधुर अस्फुट तोतली बोलीमें बार-बार कहते। पर जननी बल लगाकर चढ़नेके लिये आदेश देतीं। श्रीकृष्ण भी अपना पूरा बल लगाते, पर नहीं ही चढ़ पाते; द्वारके इस पार ही रह जाते। स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रका अनन्त बल पता नहीं इस समय कहाँ चला जाता—

सो बल कहा भयौ भगवान?
जिहिं बल मीन-रूप जल थाह्यौ, लियौ निगम, हति असुर-परान॥
जिहिं बल कमठ-पीठि पै गिरि धरि, मथ्यौ सिंधु मथि कियौ बिमान।
जिहिं बल रूप बराह दसन पर, राखी पृथ्वी पुहुप समान॥
जिहिं बल हिरनकसिप उर फार्‌यौ, भए भगत कौं कृपानिधान।
जिहिं बल बलि बंधन करि पठयौ, बसुधा त्रैपद करी प्रमान॥
जिहिं बल बिप्र तिलक दै थाप्यौ, रच्छा करी आप बिदमान।
जिहिं बल रावनके सिर काटे, कियौ बिभीषन नृपति निदान॥
जिहिं बल जामवंत-मद मेट्यौ, जिहिं बल भू-बिनती सुनी कान।
सूरदास अब धाम-देहरी चढ़ि न सकत प्रभु खरे अजान॥

श्रीकृष्णचन्द्रकी उन विविध रसमयी लीलाओंके दर्शनसे ग्रीष्मकी उत्कण्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती तथा अब तो वह रससागर श्रीकृष्णसे नित्य जुड़े रहनेके लिये तड़पने लगा; क्योंकि उसकी अवधि भी सीमित थी। ज्यों-ज्यों जानेका समय निकट आ रहा था, उसकी जलन बढ़ रही थी। सहसा एक दिन उसे श्रीकृष्णके सुचिक्कण कपोलोंपर प्रस्वेदकण दीख पड़े। बस, उसकी मनोरथ-पूर्तिका उसे सुन्दरतम अवसर मिल गया। वह अविलम्ब मानो श्रीकृष्णके कपोलोंपर झलकते हुए स्वेदबिन्दुओंमें ही विलीन हो गया।

इस प्रकार व्रजपुरमें छः ऋतुएँ आयीं तथा श्रीकृष्णचन्द्रके असीम सुन्दर रूप, गुण, लीलाका अनुभव कर उन्हींमें विलीन हो गयीं। अब समाधिसे जागी हुई-सी वर्षा पुनः आयी तथा आज पुनः भाद्रकृष्णा अष्टमीका दिन आया। इसी ऋतुचक्र एवं इस दिनसे जुड़ी हुई श्रीकृष्णचन्द्रकी आयु भी एक वर्षकी हो गयी। आज अतिशय उमंगसे श्रीकृष्णकी वर्षगाँठ मनायी गयी है—

बरसगाँठि गिरिधरनलाल की गोपिन न्यौति बुलाए।
जसुमति मुदित सबन बोलन कौं घर-घर नंद पठाए॥
गाम-गाम प्रति पौरि-पौरि प्रति घर-घर नंद पधारे।
आदर दै बड़रे गोपन कौं एक आसन बैठारे॥
गाम-गाम तें सकट जोरि कैं नंद महर घर आए।
सुनि व्रजरानी व्रजबासिन मिलि सनमुख कलस पठाए॥
घर-घर धूप-दिपावलि करि कैं निज मंदिर पधराए।
आदर दै बड़रे गोपन कौं जोरि सभा बैठाए॥
प्रेम-मुदित गावत व्रजनारीं जसुमति मंदिर आईं।
कंचन-थार बधाए सजि-सजि न्यौतो टीको लाईं॥
चंदन-अगर-कपूर-सुवासित आँगन-भौन लिपाए।
बंदनमाला सथिये द्वारें, मोतिन चौक पुराए॥
कनकपीठि तापर जुग धरि कैं दच्छिन चीर बिछाए।
महर महरि गिरिधरन गोद ले मुदित तहाँ बैठाए॥
अन्वाचार्य मुनि गर्ग-परासर कुस आसन पधराए।
बड़रे देव पुजाय लाल कौं बहुबिधि दान दिवाए॥
बंदीजन सब द्वारें गावैं, घुरे निसान-नगारे।
देव दुंदुभी गगन बजावत, ब्रज कौतूहल भारे॥
दै असीस द्वारें तहाँ जाचक भए सबन मन भाए।
मुँह माँगे सबहिन कौं नखसिख पट-भूषन पहराए॥
राई-लौन उतारि आरती प्रमुदित मंगल गाए।
अति उछाह भरि-भरि लालन कौं सब की गोद दिवाए॥
बरन-बरन आभूषन सारी व्रजतरुनीं पहराईं।
प्रमुदित बहुरि चलीं निज गृह कौं मनहुँ रंक निधि पाईं॥
नंदराय बड़रे गोपन कौं चरनन सीस नवाए।
जोरि उभय कर करत बीनती, कृपा पुन्य फल पाए॥
गोपबृंद ऋषिबृंद बिदा ह्वै देत चले आसीसा।
व्रजपति-व्रजरानी, हरि-हलधर जीवौ कोटि बरीसा॥

तृणावर्त-उद्धार

चक्रवाकी ऊँचे आकाशमें उड़ती जा रही है। उसके पीछे चक्रवाक उड़ रहा है। उनके ठीक नीचे मणिमय वेदिकापर जननीकी गोदमें विराजित श्रीकृष्णचन्द्र कौतूहलभरी दृष्टिसे उनकी ओर देख रहे हैं। नन्ही-सी सुकोमलतम दक्षिण तर्जनीको अपने अरुण अधरोंसे सटाये, दृष्टिको विहङ्गम-दम्पतिकी ओर केन्द्रितकर वे सोच रहे हैं—ये पक्षी इतने ऊँचे कैसे उड़ रहे हैं, मैं भी ऐसे उड़ सकता हूँ क्या?

मानो किसीने उनके कानोंमें मन्त्रणा दे दी हो—बाल्यलीलारसमत्त यशोदानन्दन! तुम्हें उड़ना ही चाहिये, तुम अभी-अभी उड़ोगे ही। इस प्रकार प्रोत्साहित-से होकर वे अकस्मात् समस्त अङ्गोंको नचाते हुए वहीं गोदमें खड़े हो जाते हैं, जननी उन्हें भुजपाशमें बाँध लेती है; किंतु यशोदाके नीलमणि इस समय दूसरी धुनमें हैं। उन्हें तो इस समय आकाशका खेल खेलना है। इसीलिये जननीका चिबुक स्पर्श करते हुए तोतली बोलीमें वे कह उठते हैं—'री मैया! मैं भी ऊपर उड़ूँगा।'

व्रजमहिषी पुत्रके सुचिक्कण कपोलपर शत-शत चुम्बन अङ्कित कर आनन्दगद्गद कण्ठसे कहती हैं—'मेरे लाल! आकाशमें तो पक्षी उड़ते हैं; तू तो व्रजेन्द्रतनय है, तेरे भण्डारमें शत-सहस्र रत्नजटित रथ हैं; उन रथोंपर चल, तुझे चढ़ा दूँ।' किन्तु श्रीकृष्णचन्द्र तो आज मचल गये हैं—वे तो आकाशमें ही उड़ेंगे और आज ही उड़ेंगे। इसी समय मानो नन्दनन्दनकी यह अद्भुत वाञ्छा पूर्ण करनेके उद्देश्यसे ही कंसप्रेरित तृणावर्त दैत्य अलक्षितरूपसे वहीं ऊपर आकाशमें आ पहुँचता है, आकर उनकी इस परम मनोहर बाल्यभङ्गिमाको देख रहा है। अपने नीलमणिको भुलानेके प्रयासमें लगी हुई नन्दगेहिनीने उसे नहीं देखा, आनन्दमें निमग्न यूथ-की-यूथ एकत्रित गोपाङ्गनाएँ भी उसे न देख सकीं—यह देखकर तृणावर्तके हर्षका पार नहीं। पर मूढ़ तृणावर्त यह नहीं देख सका कि श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य लीलामहाशक्ति अघटघटनापटीयसी योगमाया उसे देख रही है—आजसे नहीं, उस दिनसे देख रही है, जिस दिन पाण्ड्यनरेश सहस्राक्षने पुष्पभद्राके तटपर प्रज्वलित अग्निकुण्डमें प्रवेशकर अपने प्राण विसर्जन किये थे, उन्हींका अनुगमन उनकी सहस्र प्रेयसियोंने भी किया था, अग्नि-प्रवेशसे पूर्व सहस्राक्ष पश्चात्तापकी ज्वालामें जल रहे थे, क्रन्दन कर रहे थे—'हाय! मैं कामान्ध था, ऋषि दुर्वासाकी अभ्यर्थना न कर सका और इसीलिये ऋषिने शाप दे दिया—

असुरो भव पापिष्ठ योगाद् भ्रष्टो भुवं व्रज॥
भारते लक्षवर्षं च स्थातव्यं ते नराधम।
ततो हरिपदस्पर्शाद् गोलोकं यास्यसि ध्रुवम्॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराणम्)

'रे पापिष्ठ! जा, तू असुर हो जा! अरे! तू योगीन्द्र था; पर अब जा, योगभ्रष्ट होकर इस गन्धमादन पर्वतसे दूर पृथ्वीतलपर चला जा। नराधम! तुझे वहाँ भारतवर्षमें एक लाख वर्षतक निवास करना पड़ेगा। तब तुझे श्रीहरिके चरणारविन्दका स्पर्श प्राप्त होगा और तू निश्चय ही गोलोकधाममें चला जायगा।'

ऋषिकी अवज्ञाका परिणाम सहस्राक्षके सामने था; वे अतिशय विकल हो रहे थे। पर हृदयमें एक परम आश्वासनकी अनुभूति भी हो रही थी—ऋषिका यह शाप ही वरदान बनेगा, मेरा वह असुर-शरीर ही योगीन्द्रमुनीन्द्रदुर्लभ श्रीकृष्णपदपङ्कजका संस्पर्शलाभ करेगा; ओह! मैं तो कृतार्थ हो जाऊँगा। इस भावनासे भावित हुए सहस्राक्ष हरिपादाम्भोजका स्मरण कर जलती हुई अग्निमें प्रवेश कर गये थे—

स्मृत्वा हरिपदाम्भोजं ज्वलदग्नौ विवेश ह।

(ब्रह्मवैवर्तपुराणम्)

उन्हीं सहस्राक्षको तृणावर्त दैत्यके रूपमें परिणत होकर जन्म धारण करते भी लीलामहाशक्तिने देखा है। तबसे लाख वर्ष बीत गये हैं, किंतु तृणावर्तकी प्रतिक्षणमें होनेवाली सूक्ष्मतम चेष्टातक लीलाशक्तिके

हृत्पटपर आज भी ज्यों-की-त्यों अङ्कित है। वे तो तृणावर्तको निरन्तर देखती आ रही हैं। फिर आज कैसे न देखतीं? अस्तु।

जब व्रजरानीका पुत्रको समझानेका सारा प्रयास विफल हो गया, श्रीकृष्णचन्द्रने उड़नेकी हठ न छोड़ी, तब जननी भी एक नवीन युक्तिका आश्रय लेती हैं। वे बोलीं—'मेरे हृदयधन! अच्छा ले, तू पहले उड़ना सीख तो ले।' यह कहकर उन्होंने नीलमणिको अपने दोनों हाथोंके सहारे ऊपर आकाशकी ओर उठाया। पर यह क्या? सहसा ऐसे कैसे हो गया? नीलमणिके श्याम शरीरमें इतना भार कहाँसे आ गया? ओह! जननीकी भुजाएँ नमित हो गयीं। किसी प्रकार वे अपने वक्षःस्थलपर पुत्रको ले आयीं। पर वक्षःस्थल भी भारसे दब गया। मैया खड़ी न रह सकीं, बोझसे दबकर बैठ गयीं। किंतु अब तो बैठकर भी पुत्रको अपनी गोदमें थामनेकी सामर्थ्य जननीमें नहीं है! जननी धीरेसे नीलमणिको भूमिपर बैठा देती हैं, नहीं, नहीं, श्रीकृष्णचन्द्रका नवघनश्याम कलेवर अत्यन्त गुरु भारके कारण व्रजरानीके हाथ एवं घुटनोंके लिये सर्वथा असह्य बनकर स्वयं मणिमय धरातलपर खिसक पड़ता है। इस आकस्मिक परिवर्तनसे व्रजमहिषीके मनमें किसी आगन्तुक अनिष्टकी सम्भावना होने लगती है। वे अतिशय भयभीत होकर जगत्के अन्तर्यामी नारायणदेवका ध्यान करने लगती हैं—

ध्यातवती च जगतामन्तर्यामिपूरुषम्।

(श्रीगोपालचम्पूः)

श्रीकृष्णचन्द्र अकस्मात् वास्तवमें इतने भारी क्यों हो गये, जननी इसका रहस्य न जान सकीं। जानतीं कैसे? वे ऊपर बैठे हुए तृणावर्तको, उसकी जघन्य अभिसंधिको जो नहीं जानतीं! वे जिस क्षण पुत्रको विशुद्ध वात्सल्यका दान दे रही थीं, अपने हाथोंपर उठाकर उड़ना सिखाने जा रही थीं, उस क्षण तृणावर्त दूरसे ही सोच रहा था—

सोऽयमेव तोयदवर्णः पृथुकः पृथुगृहालिन्दं विन्दमानाया मातुरङ्के वर्त्तत इति शङ्के। तदेनमधुना सर्वं धुनानः साम्बालमेव बालं सुरवर्त्मनि वर्त्तयानि।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'हाँ, प्रतीत तो हो रहा है, यह जलधरवर्ण शिशु वही है; विस्तृत गृहालिन्दपर अवस्थित जननीके क्रोडमें वही है। तब तो विलम्ब क्यों करूँ? बस, अब समस्त व्रजको प्रकम्पित करते हुए इस शिशुको माताके सहित आकाशमें उड़ा ले जाऊँ।'

जननीने यह नहीं देखा, नहीं जाना। किंतु जननीसहित नीलमणिको उड़ा ले जानेकी तृणावर्तकी उपर्युक्त कल्पना नीलमणिमें तत्क्षण प्रतिबिम्बित हो गयी। शिशु नीलमणि यशोदाके वात्सल्यपूरित नेत्रोंमें भले ही अबोध बालक हैं, पर उनका अनन्त ऐश्वर्य भी तो श्याम कलेवरमें छिपा हुआ नित्य जाग्रत् है। उसने ही तो वात्सल्यरसास्वादनमें विभोर श्रीकृष्णचन्द्रको जगा दिया। जागते ही संकल्प उदय हुआ—आह! मेरी जननीको इस तृणावर्तके द्वारा क्लेश क्यों मिले। फिर क्या था, ऐश्वर्य-शक्तिको अनुमति मिल गयी; वे बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रके शरीरमें प्रकट हो गयीं। शिशु श्रीकृष्णचन्द्रके अङ्गोंमें कोई भी, तनिक भी परिवर्तन नहीं हुआ; पर शरीर गिरिशृङ्गकी भाँति अत्यन्त दुर्वह हो गया, जननी उसे वहन न कर सकीं—

यत्कृते मम कथं जनयित्री वात्यया परिभवं समुपैतु। इत्थमङ्गत एव स तादृक् स्तोक एव बहुदुर्वह आसीत्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

नित्यसिद्धा विशुद्धवात्सल्यरसभावितमति नन्दरानीके हृदयमें इस रहस्यज्ञानके लिये स्थान भी कहाँ है। कदाचित् वे तृणावर्तका आगमन, उसके पापमय संकल्पको जान भी लेतीं, तो भी इस गुरुभारका हेतु मेरे ही नीलमणिकी इच्छा है, यह कल्पना उनके मनमें होनेकी ही नहीं है। उनके नीलमणि अनन्त-ऐश्वर्यनिकेतन स्वयं भगवान् हैं, यह कल्पना व्रजेन्द्रगेहिनीने न कभी की है, न करेंगी। अस्तु,

अभी तो निर्धारित दृश्यका मङ्गलाचरणमात्र हुआ है। अभिनयका आरम्भ तो अब होगा। उसमें कुछ

समयके लिये जननीका पुत्रके समीपसे हट जाना आवश्यक है। इसीलिये योगमायाके अञ्चलकी छाया अब व्रजमहिषीपर भी पड़ने लगती है। एकाएक उनका मनोराज्य बदल जाता है, एक अभिनव अविवेकसे चित्त आच्छन्न हो जाता है। वे अनुभव करती हैं—नहीं, भयका कोई कारण नहीं; भगवान् श्रीनारायणदेवकी निर्मल इच्छासे ही, उनके किसी मङ्गलमय विधानसे ही मेरे नीलमणिका शरीर इतना भारी बन गया है। इस तरह सोचती हुई जननी यन्त्रचालितकी भाँति अन्तर्गृहकी ओर चल पड़ती हैं। पुत्रको वहीं रत्नघटित वेदिकापर छोड़े जा रही हैं, पर मनमें तनिक भी चिन्ता नहीं है। आह! जननी यह नहीं जानतीं कि कितना भीषण समय उपस्थित है। इतना ही नहीं, लीलाशक्तिके प्रभावसे भ्रान्त हुई जननी अनुभव कर रही हैं कि मैं तो जीवनधन नीलमणिको अपने साथ लिये आयी हूँ। अनन्त-अपरिसीम-प्रभावनिकेतन नीलमणि इस समय ऐश्वर्यके आवेशसे देदीप्यमान होकर वास्तवमें वेदिकापर विराजित हैं, पर जननीको भान हो रहा है कि मेरा वह नीलमणि तो मेरे साथ है। वे तो सर्वथा निश्चिन्त हैं। इसलिये चिन्तारहित हुई वे गृहमें प्रवेश कर जाती हैं, अन्य कार्योंमें संलग्न हो जाती हैं—

अथ भगवदिच्छयाच्छयाच्छुरितमानसा मानसारतयाविवेकेनैव नैव चिन्तयित्वा विहायापि तं हा चापितं तं समयमविदती विदती च सहानीतमिति मितिहीनप्रभावं प्रभावन्तं गृहमध्ये प्रविश्य यदा कार्यान्तरनियुक्ता तस्थुषी। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

श्रीकृष्णमायाके प्रभावसे ही भ्रमित होकर गोपाङ्गनाएँ भी, जो न जाने कितनी देरसे व्रजमहिषीका पुत्रसंलालन देख रही थीं, सब-की-सब अपने घरकी ओर चल पड़ीं। वह रत्न-अलिन्द भी श्रीकृष्णचन्द्रको अपने हृदयपर धारणकर परमानन्दका अनुभव करते हुए मानो मौन हो गया, समाधिस्थ हो गया। वहाँ एक अद्भुत शान्ति छा गयी। पर ऊपर बैठा हुआ तृणावर्त तो अब और भी चञ्चल हो उठा है। कुछ ही क्षण पहले वह आया था, श्रीकृष्णको देखकर जननीसहित उन्हें नष्ट कर देनेकी बात उसने सोची थी; पर संकल्प उदय होते ही उसने देखा, क्षणभर भी न लगा, व्रजमहिषी बालकको भूमिपर रखकर अन्तःपुरमें चली गयीं, अगणित गोपसुन्दरियाँ भी मानो वहाँसे अदृश्य हो गयीं। कहीं वह नवनीरदवर्ण शिशु भी अदृश्य न हो जाय, इस आशङ्कासे ही तृणावर्त व्यग्र हो उठता है तथा एक क्षणका भी विलम्ब न कर वह अपने चक्रवात (बवंडर)-स्वरूपमें प्रकट हो जाता है।

सहसा शत-सहस्र वज्रपातसे भी अधिक कर्णकटु महाघोर रवसे दिशाएँ प्रतिनादित और प्रकम्पित हो उठती हैं। समस्त व्रजपुरपर धूलका अंबार छा जाता है। धूल एवं अन्धकारसे सारा व्रज समाच्छन्न हो जाता है। व्रजपुरवासियोंके नेत्र निमीलित हो जाते हैं। अत्यन्त भयावह प्रलयंकर दृश्य उपस्थित हो जाता है—

ऊर्ध्वोर्ध्वावर्तनृत्यत्प्रचुरतृणरजःशर्करापूरदूर-
भ्रंशैरश्लिष्टाग्रो गलपितजनतनुः कोऽपि वात्याविवर्तः।
कल्पान्ते प्रज्वलिष्यत्फणिपतिवदनव्यूहवह्नेरुदीर्णैः
क्ष्मां निर्भिद्य धूमैरिव भुवनजनानन्धयन्नाविरासीत्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अत्यन्त ऊपर वायुके आवर्तमें तृणराशि, धूलि-समूह, प्रचुर प्रस्तरखण्ड—सभी ढेर-के-ढेर नाच-से रहे हैं, नाचकर भूमिपर गिर रहे हैं। इनके सम्पर्कमें आकर पुरवासियोंके शरीरको अत्यन्त क्लेश हो रहा है। ऐसा प्रतीत होता है—मानो कल्पान्तका समय हो, भगवान् अनन्तदेवके सहस्रमुखोंसे प्रज्वलित अग्नि निकली हो, उस अग्निसे निर्गत धूम्रराशि पृथ्वी भेदकर ऊपर उठ आयी हो, वैसे धूमपटलकी भाँति यह प्रचण्ड चक्रवात भुवनस्थ प्राणियोंका दृष्टिरोध करता हुआ प्रकट हुआ है।'

झंझावातके इस घोर अन्धकारमें तृणावर्त नीचे उतरता है तथा अतिशय शीघ्रतासे श्रीकृष्णको उठाकर ऊपर उड़ जाता है। इसी समय मानो योगमाया भी श्रीयशोदापर डाले हुए आवरणको समेटकर श्रीकृष्णके

साथ ही उड़ गयी हों, इस प्रकार जननीका मन अब निरावरण हो गया है। जननीके मनमें अब स्फुरण होता है—'हैं! मेरा नीलमणि कहाँ है? हाय, हाय! मैं तो उसे वेदिकापर ही छोड़ आयी थी।' जननी उस घोर अन्धकारको चीरती हुई सर्वथा पथ न दीखनेपर भी हाथोंसे टटोलती हुई—यह प्राङ्गणका स्तम्भ, यह द्वार, यह तोरणद्वार, यह अलिन्द, ऐसे करती—वेदिकापर आ पहुँचती हैं; घन अन्धकारसे व्याप्त वेदिकाके उस अंशपर हाथ डालती हैं जहाँ उन्होंने नीलमणिको अपनी गोदसे उतारकर रखा था। पर आह! नीलमणि अब यहाँ कहाँ! जननी कटे वृक्षकी भाँति मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं; किंतु मूर्च्छाके लिये भी इस समय व्रजमहिषीके प्राणोंकी पीड़ा असह्य है। इसलिये वह भी उन्हें परित्याग कर अलग खड़ी हो जाती है। व्रजमहिषी पुनः चैतन्य हो जाती हैं। प्राणोंकी वेदनासे कराहती हुई एक बार वे पुनः वेदिकाका प्रत्येक अंश छान डालती हैं, पर नीलमणि नहीं मिले। हताश होकर मृतवत्सा गौकी भाँति वे वहीं पृथ्वीपर लोट जाती हैं। 'हाय रे मेरा नीलमणि! तू कहाँ गया? मैं अबला तुझे कहाँ पाऊँगी?'—यह चीत्कार कर उठती हैं। चारों ओर धूलिकी, प्रस्तरखण्डकी वर्षा हो रही है तथा जननी काष्ठपाषाणवज्रविदारक करुण स्वरमें पुत्रके लिये हाहाकार कर रही हैं—

इति खरपवनचक्रपांसुवर्षे सुतपदवीमबलाविलक्ष्य माता।
अतिकरुणमनुस्मरन्त्यशोचद् भुवि पतिता मृतवत्सका यथा गौः॥

(श्रीमद्भा० १०। ७। २४)

एक मुहूर्त समाप्त होते-न-होते बवंडरका वेग तो प्रशमित हो गया। पर शान्त होते ही गोपाङ्गनाएँ व्रजरानीका क्रन्दन सुनती हैं। जो जिस अवस्थामें है, वैसे ही दौड़ पड़ती है। यहाँ आकर देखती हैं—हाय! नन्दनन्दन नहीं हैं; उन्हें चक्रवात उड़ा ले गया। गोपियोंपर पुनः वज्रपात हो गया, हृदय चूर-चूर हो गया। कुछ तो मूर्च्छित हो गयीं, कुछ अत्यन्त करुण आर्त्तनाद करती हुई विलाप करने लगीं एवं कुछ नेत्रोंसे अश्रुधारा बहाती श्रीकृष्णको इधर-उधर ढूँढ़ने लगीं—कदाचित् श्रीकृष्ण मिल ही जायँ।

इधर तृणावर्तकी अत्यन्त दयनीय दशा है। बड़े उल्लाससे वह नन्दनन्दनको ऊर्ध्व आकाशमें उड़ाकर ले तो गया; पर अब उड़ानेकी बात दूर, उनका भार वहन करनेमें भी वह सर्वथा अक्षम हो गया है। उसे प्रतीत हो रहा है कि इस अद्भुत बालकमें पर्वतसदृश भार है, इसे लेकर अग्रसर होना असम्भव है। इतना ही नहीं, वह अब चाहता है—इस शिशुको अपनेसे अलग दूर फेंक दूँ। पर यह भी सम्भव नहीं है; श्रीकृष्णने अपने दोनों हाथोंसे दैत्यके कण्ठको अत्यन्त दृढ़तासे धारण जो कर रखा है—धारणमात्र ही नहीं, वे शनैः-शनैः अपनी भुजामें अत्यधिक बलका संचार करके दैत्यके कण्ठको पीड़ित कर रहे हैं। कण्ठ संकुचित होता जा रहा है, श्वास रुद्ध होते जा रहे हैं। उसका तो अन्तिम क्षण उपस्थित है।

इस बार श्रीकृष्णकी कृपाशक्तिने पहलेसे ही उन्हें द्रवित कर दिया है। नन्दनन्दन सोच रहे हैं—जब पूतना मरी थी, उस समय उसके अत्यन्त भीषण घोर रवसे मेरे प्रिय व्रजपुरवासी अतिशय भयभीत हो गये थे। इस बार पामर तृणावर्तको मैं घोर चीत्कार करने ही न दूँगा। यही हुआ भी। देखते-देखते दैत्य निश्चेष्ट हो गया, दोनों नेत्र बाहर निकल आये, मौन आर्तनाद करता हुआ, निष्प्राण होता हुआ वह धीरे-धीरे नीचे गिरने लगा। उसके वक्षःस्थलपर विराजित, उसके कण्ठको वेष्टित किये हुए श्रीकृष्णचन्द्र भी व्रजभूमिकी ओर आने लगे। प्रतीत हो रहा है, मानो तृणावर्तरूप सोपानका अवलम्बन कर सुखपूर्वक वे स्वर्गसे अवतरण कर रहे हों।

तृणावर्तके शरीरसे एक ज्योति निकली। तथा—

तज्ज्योतिः श्रीघनश्यामे लीनं सौदामनी यथा।

(गर्गसंहिता)

जैसे विद्युत् श्याम मेघराशिमें विलीन हो जाती है, वैसे ही उसकी वह ज्योति नवजलधरवर्ण श्रीकृष्णमें विलीन हो गयी। प्राणशून्य शरीर नन्दालयके अत्यन्त निकट एक शिलाबद्ध भूभागपर जा गिरा, जहाँ नन्दरानी

अपने नीलमणिको दूध पिलानेके लिये कतिपय गायोंका स्वयं दोहन करती हैं। पूतना दूरकी वनस्थलीमें गिरी थी; तृणावर्त अत्यन्त निकट गिरा। यह इसीलिये कि श्रीकृष्णके अतिशय प्रिय व्रजवासी उन्हें शीघ्रातिशीघ्र सुगमतासे ढूँढ़ निकालें; क्योंकि इस बार वे यह नहीं जानते कि श्रीकृष्ण किस ओर गये हैं। पूतनाको तो ले जाते देखा था, उसके पीछे प्राणोंकी ममता छोड़कर गोपसुन्दरियाँ दौड़ी जो थीं। अस्तु।

तृणावर्तके शिलापर गिरते ही महान् शब्द हुआ तथा उसका प्रत्येक अवयव चूर्ण-विचूर्ण हो गया। अवश्य ही श्रीकृष्णचन्द्र सर्वथा अक्षत हैं। शब्द सुनकर गोपसुन्दरियाँ दौड़ पड़ती हैं, दैत्यके विशीर्ण अवयवोंपर अवस्थित प्रसन्नवदन श्रीकृष्णचन्द्रको पा लेती हैं। अभी-अभी व्रजपुरके वक्षःस्थलपर शोकको जो तुमुल तरंगें नाच रही थीं, वे विलीन हो गयीं—नहीं-नहीं, उनके अन्तरालसे आनन्दकी सरिता प्रवाहित होने लग गयी। ओह! इस समय श्रीकृष्णचन्द्रकी शोभा भी निराली ही है। मानो महाकण्टक-समाकीर्ण अरण्यमें एक उत्फुल्ल अपराजित कुसुम हो, तृण आदिसे आच्छन्न हुए किसी जीर्ण सरोवरपर ऊर्ध्वमृणालदण्डसमन्वित एक नीलोत्पल विकसित हुआ हो, मरुभूमिमें सुरतरुका अङ्कुर हो, परम दुःखरूप वृक्षके शिखरपर निबिड़ आनन्दकुसुम प्रस्फुटित हुआ हो—ऐसा सौन्दर्य उनके श्याम श्रीअङ्गोंसे निखर रहा है।

गोपसुन्दरियाँ श्रीकृष्णचन्द्रको हृदयसे लगाकर तत्क्षण नन्दरानीके पास दौड़ पड़ती हैं। किंतु वे तो बाह्यज्ञानशून्य हो गयी हैं। बीचमें कभी-कभी चेतना आनेपर कह उठती हैं—

स यथैव निशाचरीविषस्तनपानाच्छकटस्य पाततः।
अक्षितः किल येन वेधसा स इदानीमपि तं सदावतु॥
अधुना परमेश्वरेण चेदक्षितोऽसौ यदि लभ्यते सुतः।
न कदापि तदाङ्कमध्यतो बत भूमौ विजहामि हा पुनः॥
त्वरितं परितोऽवलोक्यतां क्व नु नीतः क्व नु पातितोऽर्भकः।
मम यावदपैति जीवितं न बहिस्तावदमुं समानय॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'आह! जिन विधाताने जैसे पूतनाके विषमय स्तन्यपानसे एवं शकटपतनसे रक्षा की थी, वे ही इस समय भी मेरे इस पुत्रकी सदा रक्षा करें। ओह! यदि परमेश्वरके द्वारा रक्षित हुआ वह मेरा पुत्र मुझे अब मिल जाय तो मैं फिर कदापि उसे अपनी गोदसे उतारकर भूमिपर न छोड़ूँगी। हाय! बहनो! शीघ्र तुम सब चारों ओर देखो—पता नहीं बवंडर इसे कहाँ उठा ले गया है, वह कहाँ गिर पड़ा है। हाय! हाय! शीघ्रता करो, जबतक मेरे प्राण बाहर प्रयाण नहीं कर रहे हैं, तभीतक समय है, तभीतक उसे मेरे समीप ले आओ। अब अधिक विलम्ब नहीं है।'

श्रीकृष्णजननीकी मूर्च्छा भङ्ग करनेके सारे प्रयत्न विफल हो चुके थे। अब प्राण जा रहे थे, पर जैसे ही एक गोपाङ्गनाने आकर यह कहा—

उबर्‌यौ स्याम, महरि बड़भागी।
बहुत दूरि तैं आइ पर्‌यौ घर, धौं कहुँ चोट न लागी॥

—उसका यह कहना था कि एक तडिल्लहरी-सी जननीके प्राणोंमें दौड़ गयी। उनके नेत्र खुल गये। खुलते ही गोपीकी गोदमें नीलमणिके दर्शन हुए। ओह! जननीके उस संदर्शनकी तुलना करनेकी सामर्थ्य किसमें है? देवी सरस्वती इतना ही कह सकती हैं—

शिशुमुपसद्य यशोदा दनुजहृतं द्राक् चिचेत लीनापि।
वर्षाजलमुपलभ्य प्राणिति जातिर्यथेन्द्रगोपाणाम्॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'दैत्यके द्वारा अपहृत शिशुको पाकर महाप्रयाण (मृत्यु)-में लीन होनेपर भी यशोदा उसी क्षण वैसे ही चैतन्य हो गयीं, जैसे वर्षाका जल पाकर इन्द्रगोप (वीरबहूटी) कीटकी जाति जीवित हो जाती है।'

इसके पश्चात् व्रजेन्द्र आ पहुँचते हैं। उनके साथ समस्त गोपकुल उमड़ पड़ता है। व्रजेन्द्र घटना सुनकर कुछ क्षण तो जडपुत्तलिका-सी बन जाते हैं। फिर भावावेग शिथिल होनेपर श्रीकृष्णको गोदमें धारण करना चाहते हैं। पर हाथोंमें इतना कम्पन हो रहा है कि मानो वे हाथ वातव्याधिसे पीड़ित हों। नेत्रोंसे देखना चाहते हैं तो अनर्गल अश्रुधारा

बह चलती है। पुत्रको वे न तो हाथोंसे थाम सकते हैं, न नेत्रोंसे जी भरकर देख पाते हैं। व्रजेन्द्रकी इस प्रेमभावित असमर्थताकी ओषधि धात्री जानती है। इसलिये जब व्रजराज वहीं भूमिपर बैठ जाते हैं, तब वह श्रीकृष्णको जननीकी गोदसे उठाकर उनकी गोदमें दे देती है। वे अपने लालको हृदयसे लगाकर बेसुध हो जाते हैं।

और तो क्या, दूरसे इस प्रचण्ड झंझावातको देखकर श्रीवृषभानुजी सदलबल आ पहुँचे हैं। विपत्तिगाथा सुनकर तो नेत्रोंमें जल भरा है, पर श्रीकृष्णको सुरक्षित देखकर रोम-रोम आनन्दसे पुलकित हो रहा है। अब वे प्रमुख गोपोंकी सभामें बैठकर परस्पर चर्चा कर रहे हैं—

अहो बतात्यद्भुतमेष राक्षसा बालो निवृत्तिं गमितोऽभ्यगात् पुनः।
हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः साधुः समत्वेन भयाद् विमुच्यते॥
किं नस्तपश्चीर्णमधोक्षजार्चनं पूर्तेष्टदत्तमुत भूतसौहृदम्।
यत् सम्परेतः पुनरेव बालको दिष्ट्या स्वबन्धून् प्रणयन्नुपस्थितः॥

(श्रीमद्भा० १०। ७। ३१-३२)

'अहो! क्या ही आश्चर्य है। यह बालक राक्षसके द्वारा मृत्युपथमें उपनीत होकर भी हमारे समीप लौट आया। सत्य है, हिंस्रप्रकृति दुष्ट प्राणी अपने पापोंसे ही विनष्ट हो जाते हैं और साधुपुरुष अपनी साधूचित समताके कारण समस्त विपज्जालसे मुक्त हो जाते हैं। अथवा भाइयो! यह भी सम्भव है—हमलोगोंके भाग्यसे ही इसकी रक्षा हुई है। ओह! न जाने हमलोगोंने कितनी तपस्याएँ की हैं, कितने दान दिये हैं, कैसे-कैसे कितने इष्ट (पञ्चमहायज्ञ, होम आदि), पूर्त (वापी-कूप-तडागादि-निर्माण), सर्वभूतहिताचरण किये हैं, न जाने अधोक्षजभगवान्‌की कितनी अर्चना की है, जिसके फलस्वरूप हमारे सौभाग्यसे भी बन्धुओंको जीवनदान देते हुए मृत्युकवलित होकर भी यह बालक हमलोगोंके समक्ष पुनः उपस्थित है।'

ब्राह्मणोंको बुलाकर व्रजेन्द्र विधिवत् स्वस्त्ययन कराते हैं। उन्हें एक लक्ष गोदान, एक लक्ष सुन्दर वसन, दस लक्ष स्वर्णमुद्रा, सहस्र नवरत्न भेंट करते हैं। पुनः व्रजपुर आनन्दमुखरित हो उठता है।

जिस ग्वालिनने श्रीकृष्णचन्द्रको तृणावर्तके समीपसे लाकर जननी यशोदाकी गोदमें रखा था, वह अभी भी यहीं है, एक निमेषके लिये भी वह नन्दभवनसे बाहर नहीं गयी है। नीलमणि परिश्रान्त-से हुए आज गोधूलिके पूर्व ही सो गये हैं। व्रजरानी उस ग्वालिनपर ही रक्षाका भार देकर दो-चार क्षणके लिये नारायणसेवाकी सामग्री एकत्रित करने जाना चाहती हैं, पर यह सुनते ही वह क्रोधमें भर जाती है। वह पहले भी व्रजमहिषीको उपालम्भ दे चुकी थी, इस समय तो और भी खीझ गयी है—

भली नहीं यह प्रकृति जसोदा, छाँड़ि अकेलौ जाति।
गृह को काज इनहुँ तें प्यारो, कैकहुँ नाहिं डराति॥
भली भई अब कै हरि बाँचे, अब तो सुरति सम्हारि।
सूरदास खिझि कहति ग्वालिनी, मन में गहरि बिचारि॥

श्रीकृष्णकी मनोहर बाललीलाएँ

निर्मल चन्द्रज्योत्स्नासे उद्भासित नन्दप्राङ्गणमें व्रजपुरन्ध्रियोंके तालबन्धपर श्रीकृष्णचन्द्र नृत्य कर रहे हैं—

निर्मलकं तव भजाम कुलेशलालाल्य बाल्यातिमोहन बलानुज नृत्य नृत्य।
इत्यङ्गनाभिरदितस्तित-थिथिथेति धीति धीतेन तालकलयेन हरिर्जगर्त॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'व्रजेशदुलारे! अपनी बाल्यचेष्टासे विमोहित करनेवाले! हम सब तेरी बलिहार जायँ। तू नाच दे! नाच दे! बलराम-अनुज! यह ले—थेई थेई थेई तत्त थेई'—इस प्रकार मनुहार करती हुई व्रजसुन्दरियाँ ताल देने लगीं एवं श्रीकृष्णचन्द्र नाचने लगे।

आजसे पंद्रह दिवस पूर्व, अशोक-आलवाल (थाल्हे) में अर्घ्य समर्पण करते हुए, वृक्षशाखाकी ओटसे व्रजेन्द्रमहिषीने अपने नीलमणिका सर्वप्रथम नृत्य देखा था—

हरि अपनें आँगन कछु गावत।
तनक-तनक चरनन सौं नाचत, मनहीं मनहिं रिझावत॥
बाँह उठाइ काजरी-धौरी गैयन टेरि बुलावत।
कबहुँक बाबा नंद पुकारत, कबहुँक घर में आवत॥
माखन तनक आपनें कर लै, तनक-बदन में नावत।
कबहुँ चितै प्रतिबिंब खंभ में, लौनी लिएँ खवावत॥
दुरि देखति जसुमति यह लीला, हरष अनंद बढ़ावत।
सूर स्याम के बाल-चरित नित-नितही देखत भावत॥

जननी अशोक-पूजन भूल गयीं। अर्घ्यपात्र हाथोंमें ही रह गया। निर्निमेष नयनोंसे नीलमणिका अद्भुत अस्फुट गायन, रुनझुन-रुनझुन तालसमन्वित नर्तन देखती हुई न जाने कितने समयके लिये वे आत्मविस्मृत हो गयीं।

इसके दूसरे दिन प्राणोंकी उत्कण्ठा लिये व्रजेन्द्र आये। पुत्रका वह मनोहर नृत्य उन्होंने देखना चाहा। किंतु पिताको देखकर श्रीकृष्णचन्द्र किञ्चित् संकुचित होने लगे। जननीने उन्हें गोदमें उठा लिया, कपोलोंको बारम्बार चूमकर वात्सल्यकी धारामें स्नान कराने लगीं। जब इस रसधारामें यह संकोच यह चला, तब जननी उन्हें पुनः मणिभूमिपर खड़ा करके प्रोत्साहन देने लगीं—

बलि बलि जाउँ मधुर सुर गावहु।
अब कि बार मेरे कुँवर कन्हैया, नंदहि नाचि दिखावहु॥
तारी देहु आपने कर की, परम प्रीति उपजावहु।
आन जंतु धुनि सुनि कत डरपत, मो भुज कंठ लगावहु॥
जनि संका जिय करौ लाल मेरे, काहे कौं भरमावहु।
बाँह उठाइ काल्हि की नाईं धौरी धेनु बुलावहु॥
नाचहु नैकु, जाउँ बलि तेरी, मेरी साध पुरावहु।
रतन जटित किंकिनि पग नूपुर, अपनैं रंग बजावहु॥
कनक खंभ प्रतिबिंबित सिसु इक, लखनी ताहि खवावहु।
सूर स्याम मेरे ढर तैं कहुँ टारे नैकु न भावहु॥

बस, जननीका प्रेमनिर्बन्ध और पिताके प्राणोंकी लालसा—दोनोंने श्रीकृष्णचन्द्रको नचा ही तो दिया। नूपुरकी रुनझुन-रुनझुन तालपर करतालो देते हुए वे नाचने लगे। उनके साथ व्रजेन्द्रका मन भी नाचने लगा। इतना ही नहीं, शरीरसे सर्वथा निकलकर व्रजेन्द्रका मन उस नूपुरध्वनिमें ही मानो विलीन हो गया। मनशून्य व्रजेन्द्र प्रवालस्तम्भपर अपने शरीरका भार दिये, अपलक नेत्रोंमें उस छविको भरे एक पहरके लिये अन्य सब कुछ भूल गये।

अब तो व्रजपुरमें यह लहर-सी दौड़ गयी। दल-की-दल व्रजवनिताएँ श्रीकृष्णचन्द्रका यह नृत्य देखने आने लगीं। श्रीकृष्णचन्द्र भी मुक्तहस्त होकर अपनी यह मधुरिमा वितरण कर रहे थे। केवल इतना ही नहीं, वे इसपर अनेकों अन्य बाल्यसुलभ चेष्टाओंकी पुट भी लगा देते थे। मानो श्रीकृष्णचन्द्रकी शैशवधारा क्रमशः गम्भीर होती जा रही थी—पहले बुद्बुदे उठे, फिर धारा फेनिल हो उठी, फिर उसके वक्षःस्थलपर तरङ्गें नृत्य करने लगीं और फिर उसमें आवर्त (भँवर) बन गये। इस प्रकार पहले उनके मुखारविन्दसे अस्फुट स्खलित शब्द निस्सरित हुए। पश्चात् उज्ज्वल

हास्यरञ्जित तोतली वाणी निकली; फिर मधुर गायन-नर्तन आरम्भ हुआ और फिर ये नृत्यगीत अत्यन्त मनोहर बाल्यभङ्गिमाओंसे सम्पुटित होने लगे। एक अद्भुत लीलामृतधारा व्रजपुरमें प्रवाहित हो रही थी। इस धाराका, इसके एक कणका आस्वाद इन्दिरा तो स्वप्नमें भी न पा सकीं, किंतु व्रजवनिताएँ अञ्जलि भरकर पान कर रही थीं, इसमें अवगाहन कर रही थीं। निगम इसके स्वरूपनिर्धारणमें संलग्न थे; महेश सोच रहे थे; शेषकी समस्त युक्तियाँ समाप्त हो गयी थीं; पर किसीने भी पार नहीं पाया कि यह लीलासुधाधार क्या, कैसी, कितनी अद्भुत है। ओह! रूपयौवनभारसे दबी किन्नरियाँ जिन्हें कभी न देख पायीं, वीणाकी झंकारसे विश्वको विमोहित करनेकी सामर्थ्य रखनेवाली गन्धर्वाङ्गनाओंके दृष्टिपथमें जो कभी न आये, पातालके सुरदुर्लभ वैभवकी अधिकारिणी नागतरुणियाँ जिनका कभी अनुसंधान न पा सकीं, उन श्रीकृष्णचन्द्रको गोबर पाथनेवाली आभीरबालाएँ करताली दे-देकर सूत्रबद्ध कपिकी भाँति नचा रही थीं; श्रीकृष्णचन्द्र भी सर्वथा उनके भावका अनुसरण करते हुए नाच रहे थे। नृत्यमात्र नहीं, उनके प्रत्येक मनोरथकी पूर्ति, प्रत्येक आज्ञाका पालन कर रहे थे। एक गोपी कहती—'मेरे लाल! वह पाँवड़ी उठाकर मेरे हाथोंमें दे तो दे।' यह सुनते ही श्रीकृष्णचन्द्र जाते, अरुणनवकिसलय हाथोंमें व्रजेन्द्रकी वह काष्ठनिर्मित पाँवड़ी (पादुका) उठा लाते, गोपीके हाथोंमें रख देते। दूसरी गोपी कहती—'मेरे प्राणधन! शक्ति लगाकर उस पीढ़ेको तो उठा ला!' यशोदानन्दन जाकर पीढ़ेको क्रमशः अपने घुटनोंपर, फिर उदरपर रखते, फिर मन्द-मन्द गतिसे चलते हुए ग्वालिनके सम्मुख जाकर उसे रख देते। तीसरी नन्दनन्दनको पीठ-वहनके श्रमसे श्रमित-सा देखकर कहती—'मेरे हृदयधन! सोहनी (झाड़ू) किसे कहते हैं? तू जानता है? उसे तू मेरे हाथमें दे दे तो जानूँ।' नन्दनन्दन पद्मरागनिर्मित चौखटकी आड़में पड़ी सोहनीकी ओर सलोनी चितवनसे देखते, फिर उसे उठा लाते, गोपाङ्गनाके हाथोंपर रख देते। चौथी पूछती—'नन्दलाल! सीढ़ीपर चढ़ तो भला।' श्रीकृष्ण वैदूर्यरचित गृहचूड़ासे संलग्न स्फटिक-निःश्रेणीकी ओर दौड़ पड़ते, चढ़ने लग जाते; आनन्दसे विवश होकर अश्रुपूरितनेत्र हुई वह ग्वालिन शीघ्रतासे पकड़ लेती, प्राङ्गणमें लाकर खड़ा कर देती। एक आभीरबाला संकेत करती—'वह देख, नीलमणि! मयूरका नृत्य देख! अहा! कितना सुन्दर नृत्य है। तू भी इसकी तरह नाच तो सही।' ग्वालिनके मनोरथकी पूर्तिके लिये नीलमणि अपनी दोनों भुजाओंको पीठकी ओर लेजाकर फैला देते, कमर झुका देते, पीठ बङ्किम बना लेते, ग्रीवा ऊपर उठा देते तथा रुनझुन-रुनझुन ध्वनि करते हुए आभीरबालाकी परिक्रमा करने लगते; नन्दप्राङ्गण गोपाङ्गनाओंकी तुमुल हर्षध्वनिसे निनादित होने लगता। कोई गोपबाला प्रश्न करती—'बता, मेरे लाल! भ्रमरका गुञ्जारव कैसे होता है?' उसकी बात सुनकर श्रीकृष्ण कुछ क्षण उद्यानसे उड़-उड़कर आते हुए मधुमत्त भ्रमरकी ओर देखते; फिर उसीका अनुकरण करते हुए—'गूँ ऊँ ऊँ ऊँ.....' ध्वनि करते। गोपिकाएँ अट्टहास करने लगतीं, श्रीकृष्ण भी उनके स्वरमें मानो स्वर मिलाकर हँसने लगते। कोई ग्वालिन द्वारदेशतक दौड़नेकी आज्ञा देती, नीलमणि दौड़ पड़ते। द्वारतक पहुँचनेके पूर्व ग्वालिन अपनी ग्रीवासे हीरक-हार निकाल लेती, चौखटपर फेंक देती। ग्वालिनके प्राणोंमें स्पन्दन होने लगता—'आह! अब इस हीरक-हारसे क्या प्रयोजन? यशोदाके नीलमणिको ही वक्षःस्थलका हार बनाऊँगी।' इस प्रकार व्रजवधुएँ जो-जो आदेश करतीं, वही-वही श्रीकृष्णचन्द्र करते; करनेके पश्चात् तोतली बोलीमें पूछते भी कि 'री चतुर हूँ न?' अवश्य ही जब किसीका निर्देश पाकर वे उन्मान (बाट) आदि भारी वस्तु उठाने जाते और वह न उठती तो रोने भी लग जाते। पर रोते ही जननी दौड़ पड़तीं, हृदयसे लगाकर अरुण अधरोंका चुम्बन करने लग जातीं। इतनी छोटी आयुमें ही वे अनेक बातें सीख गये थे, उन्हें तोतले शब्दोंमें शिशुसुलभ मुद्रामें व्रजसुन्दरियोंको सुनाते, सुनाकर उनकी ओर प्रत्याशाभरी दृष्टि डालते

तथा फिर हँसने लग जाते। व्रजसुन्दरियाँ भी उत्तरके बदले उन्हें भुजपाशमें बाँध लेतीं। उनके (गोपसुन्दरियोंके) आनन्दका पार नहीं रहता। वे तो अपना समस्त गृहकार्य, सभी सेवा-शुश्रूषा भूल चुकी थीं; जागनेसे सोनेतक छायाकी तरह श्रीकृष्ण एवं बलरामका अनुगमन कर रही थीं। क्षुधा-पिपासासे भी वे ऊपर उठने लगी थीं। श्रीकृष्णके इन मधुमय चरित्रोंसे निरन्तर मधुका निर्झर झरता था। वे उसे पी-पीकर मत्त होती जा रही थीं। श्रीकृष्णलीलारसपानसे छकी इन व्रजाङ्गनाओंके लिये अन्य समस्त अमृतराशि निस्सार हो चुकी थी। अन्य तुच्छातितुच्छ वैषयिक सुखकी वासना उनमें जाग्रत् होनेकी बात तो अत्यन्त दूर, योगीन्द्रमुनीन्द्रवाञ्छित मुक्तिसुख भी इस परमानन्दकी तुलनामें उन्हें नमक-जैसा कटु प्रतीत हो रहा था—

बनी सहज यह लूट हरिकेलि गोपीन कें,
सुपनें यह कृपा कमला न पावै।
निगम निरधार, त्रिपुरारहू बिचार रह्यौ,
पचि रह्यौ सेस, नहिं पार पावै॥
किंनरी बहुर अरु बहुर गंधरबनी,
यंनगनी चितवन नहिं माँझ पावैं।
देत करतास वे लाल गोपाल सौं,
पकर ब्रजबाल कपि ज्यौं नचावैं॥
कोऊ कहै ललन पकराव मोहि पौंहरी,
कोऊ कहै लाल बल लाओ पीढ़ी।
कोऊ कहै ललन गहाव मोहि सोहनी,
कोऊ कहै लाल चढ़ि जाउ सीढ़ी॥
कोऊ कहै ललन देखौ मोर कैसें नचैं,
कोऊ कहै भ्रमर कैसें गुँजारैं।
कोऊ कहै पौर लगि दौर आओ लाल,
रीझ मोतीन के हार वारैं॥
जो कछु कहैं ब्रजबधू सोइ सोइ करत,
तोतरे बैन बोलन सुहावैं।
रोय परत बस्तु जब भारी न उठै तबै,
घूम मुख जननी उर सौं लगावैं॥
बैन कहि लोनी पुनि चाहि रहत बदन हँस,
स्वभुज बीच लै लै कलोलैं।
धाम के काम ब्रजबाम सब भूल रहीं,
कान्ह बलराम के संग डोलैं॥
सूर गिरिधरन मधु चरित मधु पान कै,
और अमृत कछू आन लागै।
और सुख रंक की कौन इच्छा करै,
मुक्तिहू लौन सी खारी लागै॥

कभी स्वजनोंका आनन्दवर्द्धन करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र बाहुक्षेप करते—ताल ठोंकते। उस समय गोपिकाएँ कदाचित् कह बैठतीं—'नीलमणि! तेरी अपेक्षा तो राममें बल अधिक है।' यह सुनकर श्रीकृष्ण अपने चूर्णकुन्तलमण्डित सिरको हिला-हिलाकर असम्मति प्रकट करते। रोहिणीनन्दन राम भी अपने अनुजकी ओर देखकर हँसने लगते। गोपाङ्गनाएँ दोनोंको पुचकारकर पास खड़ा कर देतीं। स्वयं दो मण्डलोंमें विभक्त हो जातीं। एक मण्डली श्रीकृष्णको अधिक बलवान् बताती, दूसरी रोहिणीतनय रामका पक्ष समर्थन करती। फिर तो—

बलेन सममन्योन्यं प्राबल्यं दर्शयन्निव।
ऊर्ध्वाधोभावमासाद्य सर्वां हासयति स्म सः॥
(श्रीगोपालचम्पूः)

श्रीबलदाऊके साथ श्रीकृष्णचन्द्र नन्ही-सी भुजा फैलाकर लिपट पड़ते। दोनों परस्पर एक-दूसरेके प्रति अपना प्राबल्य दिखाते हुए-से—कभी श्रीकृष्ण ऊपर तो राम नीचे, राम ऊपर तो श्रीकृष्ण नीचे—इस प्रकार एक परम मनोहारी अभिनव मल्ल-क्रीड़ाकी रचना करते। अपनी इस बाल्यमाधुरीसे व्रजसुन्दरियोंको हँसा-हँसाकर लोट-पोट कर देते। दोनों भाइयोंकी शोभा भी—वे जब कभी भी एकत्र होते—अद्भुत ही होती। ओह! स्वच्छता तो ऐसी मानो स्फटिकमणिके पार्श्वमें महामरकत हो। स्निग्धता वह, मानो पूर्णचन्द्रमण्डित जलधर-अङ्कुर हो। सौरभ्य, सौकुमार्य ऐसे मानो पुण्डरीक (उज्ज्वल कमल)-के सहित नीलोत्पल विकसित हुआ हो। सुखमयी चेष्टा ऐसी मानो हंसवलित यमुनालहरी हो। श्रीअङ्गकान्ति ऐसी मानो ज्योत्स्नाखण्डसमन्वित तिमिर-अङ्कुर हो।

तदा स्फटिकमणिनेव महामरकतः। चन्द्रमसेव जलदाङ्कुरः। पुण्डरीकेणेव नीलोत्पलम्। हंसेनेव यमुनातरङ्गः। ज्योत्स्नाशकलेनेव तिमिरकडम्बः।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अस्तु! तबसे आज एक पक्ष पूर्ण हो रहा है। श्रीकृष्णचन्द्रका नृत्यदर्शन, गानश्रवण, क्रीड़ावलोकन ही व्रजसुन्दरियोंकी अविच्छिन्न दिनचर्या है। अब इस समय कोजागरी (आश्विन पूर्णिमाकी) रजनीमें जागरण करनेके मिससे वे नन्दालयमें एकत्र हुई हैं तथा महान् आश्चर्य है, आज अभीतक श्रीकृष्णचन्द्र भी निद्रित नहीं हुए। हों कैसे? उन्हें तो जगत्के समक्ष, जगत्के अनन्त योगीन्द्रमुनीन्द्रोंके सामने अपनी अप्रतिम भक्ताधीनता प्रकाशित करनी है। अपनी अतुल भृत्यवश्यताको प्रकट करते हुए ही तो वे प्रतिक्षण व्रजरामाओंके संकेतपर नित्यनूतन बाल्यचेष्टाका विकास करते थे, व्रजको आनन्दमें निमग्न कर देते थे—

दर्शयंस्तद्विदां लोक आत्मनो भृत्यवश्यताम्।
व्रजस्योवाह वै हर्षं भगवान् बालचेष्टितैः॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ६)

—फिर आज जब शत-सहस्र गोपसुन्दरियाँ अन्तर्हृदयमें श्रीकृष्णचन्द्रकी कोई नयी-सी चेष्टा देखनेकी लालसा छिपाये आ रही हैं, उस समय वे सो जायँ—यह कभी सम्भव है? वे तो उनकी वासनाकी छाया लेकर उनकी कल्पनासे भी सर्वथा परेकी एक अतिशय कमनीय बाल्यभङ्गिमा ग्रहण करने जा रहे हैं; योगमायाके सजाये हुए रङ्गमञ्चपर अवस्थित होकर वे तो प्रतीक्षा कर रहे हैं कि गोपसुन्दरियाँ आयें और अभिनय आरम्भ हो। उनके नेत्रोंमें आज निद्रा कहाँ? इसीलिये गोपसुन्दरियाँ श्रीकृष्णचन्द्रको जागे हुए ही पाती हैं, दिनकी भाँति ही उन्हें सर्वथा निरालस्य एवं चञ्चल देखकर नचाने लग जाती हैं; श्रीकृष्णचन्द्र भी 'थेइ थेइ थेइ तत्त थेई' तालपर पदसंचालन करते हुए नाच रहे हैं।

व्रजरानी समागत गोपरामाओंकी समुचित अभ्यर्थना इस समय नहीं कर पा रही हैं, पर उन्हें देखकर उनके आनन्दका पार नहीं; क्योंकि नन्दरानी सोच रही हैं—ये जागरण रखकर श्रीनारायणका नामोच्चारण करेंगी, उतने समयतक मेरे नीलमणिको कोई विपत्ति स्पर्शतक नहीं कर सकेगी। तृणावर्तनिधनके दिनसे जननी अत्यन्त सावधान जो रहती हैं। और तो क्या, समीरके झोंकोंसे तरुपत्र प्रकम्पित होते देखकर चञ्चल पत्रोंकी ध्वनिमात्र सुनकर वे पुत्रको गोदमें उठा लेती हैं। केवल व्रजरानी ही नहीं, व्रजेन्द्र भी अतिशय सजग हैं। उन्होंने अपनी महती सभामें सर्वसम्मतिसे उसी दिन यह निश्चय कर लिया है—नियम बना दिया है—

गोष्ठमिदं दुष्टानामधिष्ठानं वृत्तम्। तस्माद् गृह एव गोपनीयमिदं बालयुगलमिति॥ (श्रीगोपालचम्पूः)

—'यह गोष्ठ तो दुष्टोंका आवास बन गया है। इसलिये दोनों बालकोंको अन्तर्गृहमें ही छिपाये रखना चाहिये।' इसीलिये उस दिनसे श्रीकृष्णचन्द्र तोरणद्वारसे उस पार न जा सके। विशाल मणिमय प्राङ्गण ही तबसे उनका लीलामञ्च बना हुआ है। उसी मञ्चपर इस समय नूपुरकी स्वरलहरी झंकृत हो रही है, व्रजतरुणियाँ श्रीकृष्णचन्द्रका नृत्य देखकर तन-मन-प्राण न्योछावर कर रही हैं। अस्तु,

अचानक नृत्यका विराम करके श्रीकृष्णचन्द्र हँसने लगते हैं तथा समीपवर्ती मन्थन-गगरीकी ओर देखते हैं। गगरीमें गगनस्थ चन्द्र प्रतिबिम्बित है। इस प्रतिबिम्बने ही श्रीकृष्णचन्द्रका ध्यान आकर्षित किया है। अतः वे और भी समीप जाकर उसे देखते हैं, सोचते हैं—यह ऐसी सुन्दर वस्तु क्या है? फिर कुछ क्षण बाद जननीसे पूछते हैं—'री मैया! गगरीमें यह अत्यन्त उज्ज्वल क्या समाया हुआ है?' जननी पुत्रकी भोली बात सुनकर केवल उनके मुखकमलकी ओर देखती हैं, कोई उत्तर नहीं देतीं। उत्तर न पाकर श्रीकृष्ण किञ्चित् दूर खड़ी हुई जननीके पास जाकर अञ्चल पकड़कर फिर प्रश्न करते हैं। इस बार जननी हँसकर कहती हैं—'मेरे लाल! यह चन्द्रप्रतिबिम्ब है।' श्रीकृष्ण विस्फारितनेत्र होकर आश्चर्यमें भरकर बोले—'यह चन्द्र है?' उत्तरमें जननीके मुखसे निकल पड़ा—'हाँ, मेरे प्राणधन! यह चन्द्र है।' फिर त

श्रीकृष्णके उल्लासकी सीमा न रही। हाथोंको नचाकर ताली पीटकर वे बोले—'मेरी मैया! तू इसे गगरीसे निकालकर मेरे हाथोंपर रख दे।'

नन्दरानी हँसने लगती हैं, व्रजसुन्दरियाँ हँस-हँसकर लोट-पोट हो जाती हैं। किंतु श्रीकृष्ण जननीके अञ्चलका छोर पकड़े बारंबार कह रहे हैं—'री! उसे निकाल दे, शीघ्र निकालकर मेरे हाथोंमें दे दे।' जननी पुत्रको अन्य बातोंमें भुलाना चाहती हैं; पर वे तो भूलते ही नहीं, बल्कि रोना आरम्भ करते हैं। इसी समय समीप अवस्थित प्रभावती (उपनन्दपत्नी)- को एक सुन्दर बुद्धि उपज आती है। वे नन्दरानीको धीरेसे कानमें संकेत कर देती हैं। संकेत करके स्वयं भंडारमें चली जाती हैं, एक विशाल नवनीतखण्ड पीठकी ओर छिपाकर ले आती हैं तथा श्रीकृष्णकी दृष्टि बचाकर मन्थन-गगरीमें डाल देती हैं। यह हो जानेपर अञ्चलसे पुत्रकी आँखें पोंछती हुई जननी बोलीं—'अच्छा, चल, मैं तेरे हाथपर रख देती हूँ।' जननी आती हैं, गगरीके पास आकर उसमें हाथ डालकर उज्ज्वल नवनीतखण्ड निकाल लेती हैं तथा नीलमणिके हाथोंपर रख देती हैं। ओह! श्रीकृष्णचन्द्रके आनन्दका पार नहीं,—जैसे सचमुच चन्द्र ही उनके हाथमें आ गया हो! आनन्दमें निमग्न हुए नीलमणि गगरीकी ओर देखते हैं। गोपिकाओंके निकट खड़े हो जानेसे प्रतिबिम्ब विलुप्त हो गया है। किंतु श्रीकृष्णचन्द्र यह सोच रहे हैं कि चन्द्र गगरीसे निकलकर मेरे हाथोंपर आ गया है—

रुदन्तमिन्दवे मन्थगगर्यां प्रतिरूपिणे।
पिण्डेन नवनीतेन वृद्धागर्द्धयतार्भकम्॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

नवनीतपिण्ड लेकर वे आँगनमें दौड़े। उनके पीछे नन्दरानी एवं गोपिकाएँ भी दौड़ीं। पर बाहर जानेका द्वार तो गोपिकाओंकी भीड़से रुद्ध है। वे बाहर जा ही कैसे सकते हैं? इसीलिये पुनः मन्थन-गगरीके ही समीप आ जाते हैं। अब भी चन्द्र गगरीमें प्रतिभासित हो रहा है। नीलमणिकी दृष्टि भी उसपर पड़ ही जाती है। बस।·····नीलमणिने समझ लिया—जननीने मेरी वञ्चना की है, चन्द्र तो अभी भी गगरीमें ही है। उनके पङ्कजनयनोंमें रोष-मानव्यथा भर जाती है। वे वहीं भूमिपर लोट जाते हैं, हाथ-पैर पटक-पटककर करुणक्रन्दन प्रारम्भ करते हैं।

रूठे हुए श्रीकृष्णचन्द्र जननीकी गोदमें भी नहीं उठना चाहते। किसी प्रकार जननी उन्हें वक्षःस्थलपर उठा लेती हैं। समझाती हैं—मेरे लाल! चन्द्र तो गगनमें है, गगरीमें नहीं। वह देख—

ठाढ़ी अजिर जसोदा अपने हरिहि लिएँ चंदा दिखरावत।
रोवत कत बलि जाउँ तुम्हारी, देखी धौं भरि नैन जुड़ावत॥

श्रीकृष्णचन्द्र गगनस्थ चन्द्रको देखकर चुप हो जाते हैं। वे कभी आकाशचन्द्रकी ओर तो कभी गगरीमें प्रतिबिम्बित चन्द्रकी ओर देखने लगते हैं। उन्हें प्रतीत हो रहा है—दो चन्द्र हैं; एक गगरीमें एक आकाशमें। जननी पुत्रका मनोभाव जान लेती हैं। समझाती हैं—'मेरे प्राणधन! देख, चन्द्र तेरा मुख देखने आता है; जब तू गगरीकी ओर देखता है, तब चन्द्र गगरीमें आ जाता है; तू आकाशकी ओर देखता है, तब आकाशमें चला जाता है।' जननीके इस उत्तरसे नीलमणिका यह समाधान तो हो जाता है कि चन्द्र एक है; पर इससे क्या हुआ? उन्हें तो चन्द्र जो चाहिये। उसे पानेके लिये वे उपाय सोचते हैं एवं चन्द्रको ला देनेके लिये जननीके सामने पुनः मचल जाते हैं—

मनहीं मन हरि बुद्धि करत हैं, माता सौं कहि ताहि मँगावत।
लागी भूख चंद मैं खैहौं, देहि देहि रिस करि बिरुझावत॥

हठीले पुत्रको जननी बार-बार समझा रही हैं—

आछे मेरे लाल हो, ऐसी आरि न कीजै।
मधु मेवा पकवान मिठाई, जोइ भावै सोइ लीजै॥
सद माखन घृत दह्यौ सजायौ, अरु मीठौ पय पीजै।
पा लागौं, हठ अधिक करौ, जनि, अति रिस तैं तन छीजै॥

—किंतु श्रीकृष्ण मानते नहीं। जननी समझ नहीं पातीं कि कैसे समझाऊँ। वे सोच रही हैं—गगनस्थ चन्द्रको दिखाकर मैंने भूल की—

किहि बिधि करि कान्हहि समुझैहौं?
मैं ही भूलि चंद दिखरायौ, ताहि कहत मैं खैहौं!

कुछ देर सोचती रहकर फिर जननी बोलीं—

अनहोनी कहुँ भई कन्हैया, देखी सुनी न बात।
यह तौ आहि खिलौना सब कौ, खात कहत तिहि तात?

'अच्छी बात है। खिलौना ही सही। तू इसे ला तो दे। मैं खाऊँगा नहीं, इससे खेलूँगा। मैं इस खिलौनेको लूँगा ही—श्रीकृष्णचन्द्र पहलेकी अपेक्षा भी और अधिक हठ कर बैठे—

मैया, मैं तौ चंद खिलौनर लैहौं।
जैहौं लोटि धरनि पर अबहीं, तेरी गोद न ऐहौं॥

अब व्रजसुन्दरियाँ एक नयी युक्ति करती हैं। निर्मल पात्रमें जल भर देती हैं। उस जलपात्रमें जननी चन्द्रका आवाहन कर रही हैं—

बार बार जसुमति सुत बोधति, आउ चंद, तोहि लाल बुलावै।
मधु मेवा पकवान मिठाई आपुन खैहै, तोहि खवावै॥
हाथहि पर तोहि लीन्हें खेलै, नैकु नहीं धरनी बैठावै।
जल बासन कर लै जु उठावति, यहीं मैं तू तन धरि आवै॥

—कुछ देर इस भाँति चन्द्रको आनेके लिये बार-बार निमन्त्रितकर जननी जलपात्रको भूमिपर स्थापित कर देती हैं एवं उल्लासभरे स्वरमें कहती हैं—

लै लै मोहन, चंदा लै।
कमलनैन बलि जाउँ, सुचित ह्वै, नीचैं नैकु चितै॥
जा कारन तैं सुनि सुत सुंदर, कीन्ही इती अरे।
सोइ सुधाकर देखि कन्हैया, भाजन माहिं परै॥
नभ तैं निकट आनि राख्यौ है, जल-पुट जतन जुगै।
लै अपने कर काढ़ि चंद कौं जो भावै सो कै॥
गगन-मँडल तैं गहि आन्यौ है, पंछी एक पठै।
सूरदास प्रभु इती बात कौं, कत मेरौ लाल हठै॥

इस बार श्रीकृष्णचन्द्रका मनोरथ मानो पूर्ण हो गया, वे आनन्दमें भर जाते हैं; क्योंकि जलपात्रमें उन्हें चन्द्रके स्पष्ट दर्शन हो रहे हैं। वे गोदसे उतरकर चन्द्रको पकड़नेके उद्देश्यसे अपने दोनों हस्तकमल जलपात्रमें डाल देते हैं। झलमल-झलमल करती हुई चन्द्र-परछाईं विलीन हो जाती है। ठीक उसी समय योगमायाप्रेरित एक शुभ्र मेघखण्ड आकाशचन्द्रको आच्छादित कर लेता है। श्रीकृष्णचन्द्र दृष्टि फिराकर आकाशकी ओर देखते हैं—वहाँ भी चन्द्र नहीं है। जननीसे पूछते हैं—'री मैया! चन्द्र कहाँ चला गया?' मैया उत्तर देती हैं—'मेरे लाल! तू उसे हाथोंसे पकड़ना चाहता था, तुझसे डरकर वह पातालमें भाग गया।' 'पाताल क्या है?'—श्रीकृष्णने अतिशय आश्चर्यमें भरकर बड़ी उतावलीसे पूछा। जननीको अब कहीं पुत्रको भुलानेका सूत्र प्राप्त हुआ। वे बोलीं—'मेरे नीलमणि! पातालकी बड़ी सुन्दर कथा है; चल, तुझे पातालकी कथा सुनाऊँ।'

—यह कहती हुई नन्दरानी नीलमणिको हृदयसे लगाकर शय्या-मन्दिरकी ओर चल पड़ती हैं।

व्रजसुन्दरियाँ, हम कोजागरीका जागरण करने आयी हैं—यह कहकर आयी थीं। अतः वे व्रजेन्द्रके नारायणमन्दिरकी ओर चली जाती हैं। वहाँ जाकर वे जागरण कर भी रही हैं, पर उनके नयन-मन-प्राणोंमें तो श्रीकृष्णचन्द्र छाये हुए हैं। इसलिये वे नारायणका नामोच्चारण तो भूल गयी हैं, उसके बदले परस्पर एक-दूसरीको अपने चित्तकी दशा सुना रही हैं। एक गोपसुन्दरी अपनी दशा बता रही है—

मैं देख्यौ जसुदा कौ नंदन खेलत आँगन बारौ री।
तनछन प्रान पलटि गयौ मेरौ, तन-मन ह्वै गयौ कारौ री॥
देखत आनि सँच्यौ उर अंतर, दै पलकनि कौ तारौ री।
मोहि भ्रम भयौ, सखी, उर अपनैं चहुँ दिसि भयौ उज्यारौ री॥
जौ गुंजा सम तुलत सुमेरहिं, ताहू तैं अति भारौ री।
जैसैं बूँद परत आरिधि मैं, त्यौं गुन ग्यान हमारौ री॥
हौं उन माहँ कि वे मोहि महियाँ, परत न देह सँभारौ री।
तरु मैं बीज कि बीज माहँ तरु, दुहुँ मैं एक न न्यारौ री॥
जल-थल-नभ-कानन-घर भीतर, जहँ लौं दृष्टि पसारौ री।
तितही-तित मेरे नैननि आगैं निरतत नंदु-दुलारौ री॥

माँ यशोदाका शिशु श्रीकृष्णके मुखमें विश्वब्रह्माण्डको देखना तथा श्रीरामकथाको सुनकर श्रीकृष्णमें श्रीरामका आवेश

प्रबोधिनी (एकादशी)-का निशीथ है। कुमुद, कल्हार, कुन्द एवं मन्दार-पुष्पोंसे सुरभित बयार व्रजपुरके प्रत्येक मन्दिरपर बँधे हुए बन्दनवारको नचा-नचाकर स्वयं नृत्य कर रही है। इस समय व्रजपुरका प्रत्येक नारायण-मन्दिर घण्टानाद, शङ्ख-मृदङ्गध्वनि, हरिकीर्तन, गायन, नर्तनसे मुखरित है। व्रजेन्द्रके विष्णुमन्दिरका तो कहना ही क्या है!

व्रजेन्द्रने विविध उपचारोंसे अपने इष्टदेव नारायणकी पूजा की। फिर समुज्ज्वल घृतवर्तिका प्रज्वलित कर नीराजन किया। पश्चात् शारदीय कुसुमोंकी पुष्पाञ्जलि समर्पित की। तदनन्तर दो प्रसाद-पुष्प हाथमें लिये, राम-कृष्णके मस्तकपर इन निर्माल्य पुष्पोंको रखनेके उद्देश्यसे वे पार्श्ववर्ती कक्षमें चले गये। कक्षमें कर्पूरधवल शय्यापर श्रीराम एवं श्रीकृष्ण सो रहे हैं। जननी यशोदा एकाकिनी शय्याके समीप बैठी हैं। श्रीरोहिणी तो अतिथियोंकी अभ्यर्थनामें, प्रबोधिनी-उत्सवके आयोजनमें लगी हैं।

आज व्रजेश्वरी विमना-सी हो रही हैं, यह व्रजेश्वरने सायंकाल गोष्ठसे लौटते ही अनुभव किया है। किंतु समागत गोपबन्धुओंके स्वागत एवं नारायण-सेवामें तुरंत लग जानेके कारण वे अवकाश न पा सके थे कि व्रजमहिषीसे इसका कारण पूछें। अब अवसर आया है। वे राम-कृष्णके कुन्तलमण्डित गौर-श्याम भालपर पुष्पोंको रखकर, कुछ क्षण अतृप्त नयनोंसे वह शोभा निहारकर व्रजरानीकी ओर देखने लगते हैं। व्रजरानी इस समय विमना ही नहीं, अतिशय चञ्चल, विस्मित एवं उद्विग्न-सी हो रही हैं। अन्तरका विक्षोभ मुखपर स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है, रह-रहकर उनका मुख म्लान हो जा रहा है। व्रजेश्वर जानते हैं—राम-कृष्णकी अनिष्ट-आशङ्काके अतिरिक्त अन्य किसी भी कारणसे व्रजरानी विक्षुब्ध होतीं ही नहीं। इसलिये वे बोल उठे—

मया यदनिष्टभयाद्बालरोधनमुपदिष्टं तत् किं निर्वहति?

(श्रीगो० च०)

'व्रजरानी! बालकोंका अनिष्ट होनेके भयसे मैंने जो इन्हें सर्वथा अन्तर्गृहमें ही रोक रखनेका परामर्श दिया था, उसका परिपालन हो रहा है तो?'

विषण्णस्वरमें व्रजरानीने उत्तर दिया—

निर्वहत्येव किन्तु वृथेति लक्ष्यते। (श्रीगो० च०)

'पालन तो हो ही रहा है; परंतु ऐसा प्रतीत हो रहा है, यह उपाय भी व्यर्थ है।'

सुनते ही गोपेन्द्रके मुखपर प्रस्वेद-कण झल-झल करने लगते हैं। अविलम्ब भग्न स्वरमें वे पुकार उठते हैं—

हन्त कथमिव? (श्रीगो० च०)

'हैं! यह किस प्रकार?'

अब व्रजरानीके नेत्र छल-छल करने लगते हैं और वे किञ्चित् अस्फुट स्वरमें कहने लगती हैं—'नाथ! प्रातःकालकी बात है, नीलमणि तबतक सोया हुआ था; मैं उसे दूरसे देख रही थी, साथ ही गृहकार्यका समाधान भी करती जा रही थी। अकस्मात् स्नेहावेशमें मेरे स्तन झरने लगे। मैं दौड़ी, नीलमणिको गोदमें उठा लिया, उसे स्तनपान कराने लगी। उसे भी क्षुधा थी, बड़ी ललकसे वह दूध पी रहा था। प्रायः उसकी तृप्ति भी हो चली थी। पर सहसा उसने स्तनाग्रको मुखसे निकालकर अँगड़ाई ली। मैं उसका स्वभाव जानती हूँ, वह अभी भी किञ्चित् क्षुधित था। इसलिये मैं बार-बार कपोलोंका चुम्बन कर पुनः स्तन्यपानके लिये प्रोत्साहित करने लगी। इतनेमें उसने जम्हाई ली। ओह! उस समय, नारायण! नारायण!! मैंने उसके उस छोटे-से मुख-विवरमें निश्चय ही सम्पूर्ण जगत्को अवस्थित देखा!!!'

व्रजरानीकी श्वासगति अत्यन्त तीव्र हो गयी। सारा शरीर थर-थर काँपने लगा। पर वे बोलती ही गयीं—'ओह! मैंने स्पष्ट देखा है, नीलमणिके छोटे-से मुख-विवरमें झाँककर देखा—वहाँ नीला अनन्त आकाश—महाकाश है, स्वर्ग है, पृथ्वी है, ज्योतिश्चक्र है, दिशाएँ हैं, सूर्य है, चन्द्र है, अग्नि है, वायु है, समुद्र हैं, दीपपुञ्ज हैं, पर्वतमालिकाएँ हैं, नद-नदीसमूह हैं, अरण्यश्रेणियाँ हैं, चराचर अनन्त प्राणी हैं; अरे! नीलमणिके छोटे-से मुखमें सम्पूर्ण विश्वको मैंने देखा है—'

खं रोदसी ज्योतिरनीकमाशाः सूर्येन्दुवह्निश्वसनाम्बुधींश्च।
द्वीपान् नगांस्तद्दुहितॄर्वनानि भूतानि यानि स्थिरजंगमानि॥

(श्रीमद्भा० १०। ७। ३६)

यशोदा रानीने व्रजेश्वरके हाथोंको अपने हाथोंमें ले लिया और कुछ क्षणके लिये सर्वथा मौन हो गयीं। नेत्र निमीलित हो गये। व्रजेश्वर भी अर्द्धनिमीलित-नेत्र हुए यह घटना सुन रहे थे।

अब पुनः व्रजरानी कहने लग जाती हैं—'सुनो! और भी बात है। दिनभर मैं चिन्तामें निमग्न रही। मेरे विस्मयका, भयका पारावार न था। मनमें इच्छा होती—सूचना देकर गोष्ठसे तुम्हें तुरंत बुला लूँ, सारा समाचार कहूँ; पर उसी समय नीलमणि हँसता हुआ मेरी गोदमें आ जाता और उतने समयके लिये मैं इस घटनाको भूल जाती। इसी तरह संध्या हो गयी। प्रबोधिनी-उत्सवकी रङ्गशालामें नटोंकी लीला आरम्भ होने जा रही थी। राम-कृष्णको लेकर मैं वहाँ चली गयी; किंतु रह-रहकर मुझे उस दृश्यका स्मरण हो आता था और मैं उत्सवसे विमना हो जाती। इतनेमें नटोंने रामलीलाका अभिनय प्रारम्भ किया। सामने भगवान् श्रीसीतारामकी सुन्दर झाँकी आयी। मैंने देखा—मेरे नीलमणिके नेत्रकमल सीता बनी हुई नटीकी ओर केन्द्रित हैं और उसका सारा शरीर काँप रहा है। मैं अत्यन्त डर गयी, अविलम्ब राम-श्यामको लिये शयनागारमें चली आयी। यहाँ आते ही नीलमणि स्वस्थ तो हो गया, पर उसकी आँखोंमें नींद नहीं। अतः मैं उसे सुलानेके उद्देश्यसे तथा अपने व्रतका निर्वाह करनेके लिये* श्रीरामचरित्रकी कथा नीलमणिको सुनाने लगी। वह भी आनन्दमें निमग्न होकर सुनने लगा—

सुनि सुत, एक कथा कहौं प्यारी।
कमल-नैन मन आनँद उपज्यौ, चतुर-सिरोमनि देत हुँकारी॥

मैंने कथा आरम्भ की—

दसरथ नृपति हुतौ रघुबंसी, ताकें प्रगट भये सुत चारी।
तिन में मुख्य राम जो कहियत, जनक-सुता ताकी बर नारी॥
तात-बचन लगि राज तज्यौ तिन, अनुज-घरनि सँग भये बनचारी।
धावत कनक-मृगा के पाछें, राजिव-लोचन परम उदारी॥

—किंतु जैसे ही मैंने सीताहरणका प्रसङ्ग सुनाया कि मेरे नीलमणिमें एक आवेश उत्पन्न हुआ, उसकी तन्द्रा जाती रही; वह 'लक्ष्मण! धनुष दो, धनुष दो' कहकर उठ खड़ा हुआ—'

रावन हरन सिया की कीन्ही, सुनि नँद-नंदन नींद निवारी।
चाप-चाप करि उठे सूर-प्रभु, लछिमन देहु जननि भ्रम भारी॥

यह कहते-कहते व्रजरानी व्रजेशके हाथोंपर सिर रखकर रोने लग गयीं। पुत्रकी अनिष्ट-आशङ्कासे वे अतिशय व्याकुल हो गयी हैं।

व्रजेश्वर अतिशय मनोयोगसे यशोदा रानीकी बात सुनते रहे हैं। पर उनमें इस बार भयका संचार नहीं हुआ, प्रत्युत हर्षजन्य सात्त्विक विकार शरीरपर व्यक्त होने लगे। वे कुछ देरके लिये समाधिस्थ-से हो गये। फिर गद्गद कण्ठसे बोल उठे—'नहीं-नहीं, यह कदापि राक्षसी माया नहीं, असुरावेशके द्वारा यह असम्भव है; यह तो सर्वथा मेरे नाथ, जगन्नाथ श्रीनारायणकी माया है। मेरे पुत्रमें समय-समयपर निश्चय ही मेरे इष्टदेवका आवेश होता है, उनका वैभव

---

* यह शास्त्रीय विधान है कि प्रबोधिनी-व्रतीको भगवत्-चरित्र आदिका कीर्तन करते हुए उस दिन नित्य-जाग्रत् भगवान्‌को भी जगाना चाहिये।

प्रकाशित हो जाता है; ओह! वे निरन्तर मेरे पुत्रकी रक्षा कर रहे हैं। नहीं, अब अन्य उपायकी आवश्यकता नहीं। व्रजरानी! दोनों बालकोंपरसे सारा प्रतिबन्ध हटा दो, इन्हें व्रजमें स्वच्छन्द विचरने दो; विश्वपति स्वयं इनकी रक्षा कर रहे हैं। अनिष्टकी चिन्ता छोड़ दो, भयका कोई कारण नहीं है।' गोपेन्द्रकी अत्यन्त दृढ़, गम्भीर, ओजभरी इस वाणीने क्षणभरमें श्रीयशोदाका सारा संताप हर लिया। साथ ही योगमायाकी योजना भी सफल हो गयी। श्रीकृष्णचन्द्रकी इस अघटघटनापटीयसी योगमायाशक्तिने ही तो उनके इस वैभवका विस्तार किया था; क्योंकि वे अनुभव करने लगी थीं—'मेरे प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र—अग्रज रामके सहित नन्दप्रासादकी सीमामें अवरुद्ध हैं, तोरणद्वारका उल्लङ्घन नहीं कर सकते; परंतु अब वे व्रजपुरमें विहार करनेके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहे हैं, इसी समय उनकी इस इच्छाके अनुकूल रङ्गमञ्चकी रचना अनिवार्य है; मैं करूँगी ही। यह लो! देखो, कर चुकी—

तदेवं सरामस्य तस्य निरोधे विधीयमाने बहिर्विजिहीर्षिते चातीव तदुपजीवनतामासन्ने योगमाया तदानुकूल्याय किञ्चित् प्रपञ्चितवती।

इस प्रकार प्रबोधिनी-निशाका अवसान होनेके साथ ही श्रीकृष्णचन्द्रपर लगे हुए प्रतिबन्धका भी अवसान हो गया। दूसरे दिन जिस समय व्रजेन्द्र प्रबोधिनीकी पारणा करनेसे पूर्व वेदज्ञ ब्राह्मणोंको चन्दनचर्चित रत्नसंवलित, जलपूर्ण स्वर्णकलश, स्वर्णमयी नारायणप्रतिमा, राशि-राशि मणि-माणिक्य, वस्त्रपुञ्ज एवं अन्नकूटका दान कर रहे हैं उस समय राम एवं श्रीकृष्ण तोरणद्वारके उस पार गोवत्सोंके मध्यमें खड़े उनसे खेल रहे हैं। अवश्य ही जननी यशोदा भी सारा गृहकार्य, समस्त दान-धर्म भूलकर पीछे-पीछे आयी हैं—निकट ही खड़ी हैं, इस भयसे कि कदाचित् कोई गोवत्स नीलमणिके सुकोमलतम श्याम कलेवरमें चोट न लगा दे। किंतु चञ्चल श्रीकृष्णचन्द्रमें भयका लेश भी नहीं। सर्वथा निर्भीक रहकर वे बछड़ोंका स्पर्श कर रहे हैं, उन्हें छूते हुए क्रमशः नन्दप्रासादसे संलग्न गोशालाप्राङ्गणमें जा पहुँचते हैं। वहाँ अचानक एक कूदता हुआ बछड़ा उनके समीप आ जाता है। जननी दौड़ पड़ती हैं। पर उनके आनेसे पूर्व श्रीकृष्णचन्द्र उस बछड़ेको पकड़ लेते हैं। उनके कर-कमलका स्पर्श पाते ही बछड़ा भी सर्वथा शान्त होकर खड़ा हो जाता है। आनन्दमें भरकर पहले वे स्वयं बैठ जाते हैं, फिर बछड़ेको अपनी ओर खींचने लगते हैं। वह भी, मानो हिमनिर्मित गोवत्सप्रतिकृति हो, इस प्रकार धीरे-धीरे श्रीकृष्णके द्वारा आकर्षित होकर बैठ जाता है, अपना सिर श्रीकृष्णकी गोदमें गिरा देता है। अब तो श्रीकृष्णचन्द्रके उल्लासकी सीमा नहीं। वे अपनी दोनों भुजाओंसे गोवत्सका मुख धारण कर लेते हैं। पश्चात् अरुण पङ्कजदलसदृश अपने अधरोंको उसपर रख देते हैं, गोवत्सके मुखका चुम्बन करने लगते हैं। ओह! यह दृश्य कितना मनोरम है; किंतु इसे देखकर जननीके हृदयमें तो एक साथ ही भय एवं कौतुकके दो स्रोत बह चलते हैं—

गोशालचत्वरतले विचरन् प्रवत्सं
वत्सं विधृत्य विनिपात्य निजाङ्कमूले।
दोर्भ्यां निगृह्य मुखमस्य मुखाम्बुजेन
चुम्बन् भियं च कुतुकं च तनोति मातुः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

यह मनोहर दृश्य दूर खड़ी हुई श्रीरोहिणी भी देख रही हैं। उनके नयनोंमें भी भय भरा है, कहीं गोवत्स सहसा पुनः उछल पड़े और नीलमणि उसकी चपेटमें आ जाय! वे तो अधिक देरतक इस कौतुकका आनन्द ले भी न सकीं। श्रीकृष्णचन्द्रके पास जाकर उन्हें अपनी गोदमें उठा ही लिया। श्रीकृष्ण भयभीत जननी-युगलकी ओर देखने लगते हैं। उनके अधरोंपर मन्द-मन्द मुसकान है। दूरपर खड़े श्रीराम भी हँस रहे हैं। इन दोनोंको साथ लेकर दोनों जननियाँ प्रासादकी ओर चल पड़ती हैं। दोनों ही चिन्तामें निमग्न हैं,

सोचती जा रही हैं कि 'ये दोनों बालक जबसे घुटरूँ चलने लगे हैं, तभीसे अतिशय चञ्चल हैं। अब तो इनके पैर हो आये हैं, ये दौड़ने लगे हैं; अब इनकी रक्षाकी क्या व्यवस्था करें?'

राम-कृष्णकी समस्त चेष्टाओंके सुन्दर चित्र दोनों जननियोंके स्मृतिपटपर नित्य अङ्कित रहते हैं। सजातीय प्रसङ्ग उपस्थित होते ही वे सजीव-से बनकर नेत्रोंके समक्ष आ जाते हैं। इसलिये यद्यपि पुत्रको गोदमें लिये वे नन्दभवनकी ओर बढ़ रही हैं; पर नेत्रोंके सामने राम-कृष्णकी, छः मास पूर्वकी चञ्चलतापूर्ण बाल्यभङ्गिमा नाच रही है। वे स्पष्ट एक-एक चेष्टा देखती आ रही हैं—'एक महिषके पृष्ठ-देशपर श्रीकृष्ण चढ़नेकी चेष्टा कर रहे हैं, राम उसकी पूँछ पकड़कर खींच रहे हैं। × × × × सामने प्रज्वलित अग्नि है, उस अग्निशिखाके सौन्दर्यपर मुग्ध होकर दोनों उसे पकड़ना चाहते हैं। × × × एक श्वान गृहालिन्दके पास खड़ा है, उसे देखते ही राम-कृष्ण उसकी ओर दौड़ पड़ते हैं; परमानन्दमें निमग्न होकर वह श्वान पुच्छसंचालन करने लगता है, श्रीकृष्णके सामने सिर झुका देता है; राम उसकी ग्रीवामें अपनी भुजा डाल देते हैं; श्रीकृष्ण उसके विस्फारित मुखमें अपना हाथ डालकर उसकी अरुण जिह्वा पकड़ लेते हैं; पकड़कर खींचते हैं। × × × एक कृष्णसर्प आया है, दोनों उसके निकट जा पहुँचे हैं; पहले रामने उसकी पूँछ खींची, सर्प अपने फणका विस्तार कर खड़ा हो गया; श्रीकृष्णने उसके फणपर हाथ रख दिया; बस, तुरंत फण समेटकर वह पृथ्वीपर शान्त लोट गया; पासमें अवस्थित छोटे बच्चे ताली पीट रहे हैं। × × × नन्दोद्यानके गम्भीर कूपके समीप दोनों जा पहुँचे हैं; दोनोंने मिलकर, पूरा बल लगाकर रस्सीमें बँधी हुई कलसीको कूपमें फेंक दिया, फिर कलसीको खींचना चाहते हैं; किंतु जलपूर्ण कलसी दोनोंके बलकी अपेक्षा अधिक भारी हो गयी है, अपनी असमर्थता अनुभव कर दोनों 'माँ-माँ' पुकार उठते हैं। × × × नन्दप्राङ्गणमें आनन्दमत्त मयूर नृत्य कर रहा है; दोनों निर्निमेष नयनोंसे यह नृत्य देखते हैं, फिर धीरेसे जाकर मयूरके चित्रित छत्रको पकड़ लेते हैं; मयूर अपनी ग्रीवा एवं चञ्चुको नचा-नचाकर अधिकाधिक आनन्दका अनुभव कर रहा है। × × × उद्यानमें राम-कृष्ण खेल रहे हैं; उन्होंने सहसा देखा—कण्टक-आवरणके अन्तरालमें एक हरित लता फैली है, उसपर अतिशय सुन्दर पीताभ कुसुम प्रस्फुटित हो रहे हैं; उन्हें तोड़नेके उद्देश्यसे श्रीकृष्णने कण्टक-आवरण (बाड़)-में अपना सिर डाला है, राम पेटके बल प्रवेश करनेकी चेष्टा कर रहे हैं।

इस तरह अतीतकी स्मृति भी व्रजरानी एवं रोहिणीके समक्ष तात्कालिक-सी बनकर आयी है और वे परस्पर निश्चय कर रही हैं—'बहन! पुत्रोंकी रक्षा तब होगी, जब हम दोनों गृहकार्यका सर्वथा परित्याग कर दें; इन चञ्चल बालकोंकी रक्षा एवं गृहकार्यका समाधान दोनों एक साथ सम्भव नहीं, हमसे हो सकते ही नहीं। आह! यदि महिष अपने शृङ्गोंसे दोनों बालकोंपर आघात कर देता, अग्निशिखा जला देती, वह कुकुर काट खाता, सर्प डँस लेता, वे दोनों कूपमें जा गिरते, मयूर चोंचसे नोंच खाता, तीखी बाड़के काँटे राम-श्यामके शरीरमें बिंध जाते तो फिर हम अभागिनोंकी क्या दशा होती?' यह सोचते-सोचते व्रजरानी एवं रोहिणीका मन पुनः अतिशय चञ्चल हो उठा—

शृङ्ग्यग्निदंष्ट्र्यसिजलद्विजकण्टकेभ्यः
क्रीडापरावतिचलौ स्वसुतौ निषेद्धुम्।
गृह्याणि कर्तुमपि यत्र न तज्जनन्यौ
शोकार्त आयतुरलं मनसोऽनवस्थाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ८। २५)

उपर्युक्त भावनामें बहती हुई व्रजरानी एवं रोहिणी वहाँ जा पहुँचती हैं, जहाँ व्रजेन्द्र इस समय भी वन्दीजनोंको रत्नराशि लुटा रहे हैं। प्रबोधिनीकी पारणा भी अभीतक उन्होंने नहीं की है। पर अब वे दान देना

भूलकर रोहिणी एवं यशोदाकी गोदमें अवस्थित राम-श्यामकी ओर देखने लगते हैं। व्रजेश्वरको अपनी ओर ताकते देखकर श्रीकृष्ण बोल उठते हैं—'बाबा! मैं गोवत्सोंके साथ खेलने गया था, मैया मुझे उठा ले आयी है।' ओह! मानो ये शब्द नहीं, एक अमृत-स्रोत फूट निकला, कर्णरन्ध्रोंके पथसे; वह व्रजेश्वर, व्रजरानी, श्रीरोहिणीके अन्तस्तलमें जा पहुँचा; उनके प्राण सिक्त हो गये। तीनोंके प्रबोधिनीव्रतकी आस्तविक पारणा हो गयी। साथ ही इस अमृतधारामें व्रजेश्वरीके, श्रीरोहिणीके पुत्ररक्षणकी चिन्ता भी विलीन हो गयी। व्रजेश्वरके स्मृतिपथमें इस समय है एकमात्र श्रीकृष्णका मुखारविन्द! व्रजरानीकी समस्त वृत्तियाँ तन्मय हो रही हैं केवल श्रीकृष्णके मुखकमलमें!! श्रीरोहिणीको और सब कुछ विस्मृत होकर स्मरण है बस, एकमात्र श्रीकृष्णवदनाम्भोज!!!

उसके एक दिन बाद त्रयोदशीके प्रातःकाल श्रीकृष्णचन्द्रको अद्भुत शृङ्गारसे विभूषित कर व्रजरानीने उन्हें विस्तृत प्राङ्गणमें खेलनेके लिये छोड़ दिया। गीत गा-गाकर मणिस्तम्भोंकी परिक्रमा करते हुए वे खेलने लगे। इसी समय व्रजपुरकी एक नववधू नन्दोद्यानमें केतकी-पुष्प चयन करने आयी। पुष्पचयनके पश्चात् उत्सुकतावश पार्श्ववर्ती गोशालामें चली गयी। वहाँसे बरबस आकर्षित-सी हुई नन्दभवनमें जा पहुँची और उसने श्रीकृष्णचन्द्रको देख लिया। बस! देखते ही मोहित हो गयी। यह भूल गयी कि मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ। कहीं तीसरे पहर बाह्यज्ञान हुआ और घर पहुँची। विलम्बका कारण पूछनेपर गद्गद कण्ठसे वह बोल रही है—

आजु गई हौं नंद-भवन में, कहा कहौं गृह-चैन री।
चहूँ ओर चतुरंग लच्छमी, कोटिक दुहियत धैन री॥
घूमि रहीं जित-तित दधि-मथनीं, सुनत मेघ-धुनि लाजै री।
बरनौं कहा सदन की सोभा, बैकुंठहु तैं राजै री॥
डोलि लई नवबधू जानि, जहँ खेलत कुँवर कन्हाई री।
मुख देखत मोहिनी-सी लागी, रूप न बरन्यौ जाई री॥
लटकन लटकि रहे भ्रू-ऊपर, रँग-रँग मनि-गन पोहे री।
मानहुँ गुरु-सनि-सुक्र एक ह्वै, लाल भाल पर सोहे री॥
गोरोचन कौ तिलक, निकटहीं काजर-बिंदुका लाग्यौ री।
मनौ कमल कौ पी पराग, अलि-सावक सोइ न जाग्यौ री॥
बिधु-आनन पर दीरघ लोचन, मासा लटकत मोती री।
मानौ सोम संग करि लीने, जानि आपने गोती री॥
सीपज-माल स्याम-उर सोहै, बिच नख-नहँ छबि पावै री।
मनौ द्वैज-ससि नखत सहित है, उपमा कहत न आवै री॥
सोभा-सिंधु अंग-अंगनि प्रति, बरनत नाहिंन और री।
जित देखौं मन भयौ तितहिं कौ, मनौ भरे कौ चोर री॥
बरनौं कहा अंग-अँग-सोभा, भरी भाव-जल-रास री।
लाल गोपाल जाल-छबि बरनत, कबि-कुल करिहै हास री॥
जो मेरी अँखियनि रसना होती, कहती रूप बनाइ री।
चिरजीवहु जसुदा कौ छोटा, सूरदास बलि जाइ री॥

श्रीकृष्णकी मृद्भक्षण-लीला तथा माँ यशोदाका पुनः उनके मुखमें असंख्य विश्वब्रह्माण्डोंको देखना

स्वर्णकलशीसे अञ्जलिभर जल लेकर जननी यशोदाने श्रीकृष्णचन्द्रके चूर्णकुन्तलमण्डित सिरपर बिखेर दिया। वारिधारा भाल, नेत्र, कपोल, स्कन्ध एवं उदरका अभिषेक करती हुई चरणोंको सिक्त करने लगी। श्रीकृष्णचन्द्रका स्नान हो गया। एक दिन था, ये श्रीकृष्णचन्द्र ही तो थे, रसातल-निमग्ना धराका उद्धार करने गये थे, उद्धार कर लौट रहे थे। इनके विशाल वाराहविग्रहके दंष्ट्राग्रपर पर्वतादि-मण्डित धरा सुशोभित थी तथा चारों ओर अपरिसीम सागर हिलोरें ले रहा था। उस दिन सागरकी यह अनन्त अम्बुराशि इनके एक रोमविवरको भी भर देनेमें समर्थ न हो सकी थी। पर आज जननीकी अञ्जलिका जल ही पर्याप्त हो गया, उतने जलसे ही जननीने अरविन्दनेत्र श्रीकृष्णचन्द्रको नहला दिया—

यज्ञोमन्थपरिपूर्तिविधावदक्षा वाराहजन्मनि बभूवुरमी समुद्राः।
तं नाम नाथमरविन्ददृशं यशोदा पाणिद्वयान्तरजलैः स्नपयाम्बभूव॥

(श्रीलीलाशुकस्य)

स्नानके उपरान्त व्रजरानी पुत्रका अङ्गमार्जन एवं शृङ्गार करती हैं—

अति सरस बसन तन पोंछे। लै कर मुख-कमल अँगोछे॥
अंजन दोउ दृग भरि दीन्हौ। भ्रुव आरु बखौंरा कीन्हौ॥
आभूषन अँग जे बनाये। लालहि क्रम-क्रम पहिराये॥

अब यशोदारानी श्रीकृष्णका हाथ पकड़े भोजनागारकी ओर जा रही हैं। नीलमणिकी भोजनमें रुचि हो, इस उद्देश्यसे विविध पक्वान्नका वर्णन भी पुत्रको सुना रही हैं। विश्वपति विश्वम्भरको मिष्टान्नका नाम सुना-सुनाकर प्रलोभित करनेका यह प्रयास कितना आश्चर्यमय है—

अति प्यौसर सरस बनाई। सिहिं सोंठ-मिरिच रुचि भाई॥
दधि दूध बरा दहिबरी। सो खात अमृत यक कौरी॥
सुठि सरस जलेबी छोरी। जिहिं जेंवत रुचि नहिं थोरी॥
अरु खुरमा सरस सँवारे। ते परसि धरे हैं न्यारे॥
सक्करपारे सद-पागे। ते जेंवत परम सभागे॥
सेव लाडू रुचिर सँवारे। जे मुख मेलत सुकुमारे॥
सुठि मोती लाडू मीठे। वे खात न कबहुँ उबीठे॥
खिर-लाडु लवंगनि नाये। ते करि बहु जतन बनाये॥
गूझा बहु पूरन पूरे। भरि-भरि कपूर रस चूरे॥
अरु तैसियै दाल मसूरी। जो खातहिं सुख-दुख दूरी॥
अरु हेसमि सरस सँवारी। अति स्वाद परम सुखकारी॥
बाबर बरने नहिं जाई। जिहिं देखत अति सुख पाई॥
मृदु मालपुआ मधु साने। जे तुरत तपत करि आने॥
सुंदर अति सरस अँदरसे। ते घृत-दधि-मधु मिलि सरसे॥
घेवर अति थिरत-चभोरे। लै खाँड़ सरस रस बोरे॥
मधुरी अति सरस खजूरी। सद परसि धरी घृत-पूरी॥

इतना ही नहीं, वास्तवमें अनन्त-ऐश्वर्य-निकेतन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र भी इस मिष्टान्नचर्चासे प्रलोभित हो जाते हैं। भले ही वे—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्च अग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत॥
ॐ नारायणाय नमः। नैवेद्यं निवेदयामि।*

—इस पुरुषसूक्तके मन्त्रसे सविधि अर्पित नैवेद्य-सम्भारकी ओर दृष्टिपाततक न करें, किंतु जननीकी यह मिष्टान्नवर्णना उनके कर्णरन्ध्रोंमें सुधाधारा बहा देती है, नित्यतृप्त निर्विकार श्रीकृष्णचन्द्रमें चाहका—लोलुपताका संचार कर देती है, नित्यनिरीहको चञ्चल बना देती है। घृतसिक्त पूरियोंका नाम सुनकर तो उनके हर्षका पार नहीं रहता—

---

* यज्ञपुरुषके मनसे चन्द्रमाकी उत्पत्ति हुई, चक्षुसे सूर्य उत्पन्न हुए; मुखसे इन्द्र एवं अग्नि प्रकट हुए तथा प्राणसे वायुका प्रादुर्भाव हुआ। श्रीनारायणको नमस्कार है, मैं उन्हें नैवेद्य अर्पण कर रहा हूँ।

अब पूरी सुनि हरि हरष्यौ । तब भोजन पर मन करष्यौ ॥

श्रीकृष्णचन्द्रको यशोदारानी भोजनगृहमें एक सुन्दर पीताभ आसनपर बैठा देती हैं। श्रीरोहिणीके हाथोंसे एक-एक वस्तु लेकर अपने नीलमणिके सामने रखती हैं। नीलमणि अग्रज बलरामको पुकारने लगते हैं। उनके बिना वे कभी भी भोजन जो नहीं करते। श्रीबलरामको भी श्रीकृष्णके बिना भोजन भाता ही नहीं। वे इस समय कुछ दूर खड़े रहकर श्रीकृष्णकी ओर देख रहे हैं। अनुजका आह्वान सुनते ही आ पहुँचते हैं और तब क्रमशः भोजन एवं अँचवन आदि होता है—

बलदाऊ टेरि बुलाये । यह सुनि हलधर तहँ आये ॥
षटरस परकार मँगाये । जे जननि जसोदा गाये ॥
मनमोहन हलधर बीरा । जेंवत रुचि राख्यौ सीरा ॥
सीतल जल लियौ मँगाई । भरि झारी जसुमति ल्याई ॥
अँचवत तब नैन जुड़ाने । दोउ हरषि-हरषि मुसुकाने ॥
हँसि जननी चुरू भरावे । तब कछु-कछु मुख पँछरावे ॥
तब बीरि तनक मुख नायौ । अति लाल अधर ह्वै आयौ ॥
छबि सूरदास बलिहारी । माँगत कछु जूठनि थारी ॥

अब श्रीकृष्णचन्द्र बाहर खेलने जा रहे हैं—अकेले नहीं, अग्रज एवं श्रीदाम, सुदाम, वसुदाम आदि सखाओंके साथ। बाहर न जानेका प्रतिबन्ध तो व्रजेश्वरने प्रबोधिनीके दिन ही हटा दिया था। उस दिनसे श्रीकृष्णचन्द्र परम स्वच्छन्द होकर विचरते हैं; किंतु नन्ददम्पतिके वात्सल्य-परिभावित चित्तमें अकारण ही पुनः अनिष्ट-आशङ्काकी छाया उदय हुई और दोनोंने यह परामर्श किया—

उभयोरेव नैकाकिविहारित्वं समीचीनमतः खेलासहचराः परिचरणचतुराः परिचारकाश्च कल्पनीयाः ।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

राम, कृष्ण—दोनोंके लिये ही एकाकी विचरण करना उचित नहीं। अतः खेलके संगी मित्रोंकी तथा सेवाकार्यमें कुशल बालपरिचरोंकी व्यवस्था करनी चाहिये।

व्रजेश्वरके संकेतमात्रका विलम्ब था। फिर तो व्रजपुरके प्रमुख गोप अपने-अपने पुत्रोंको प्रतिदिन श्रीकृष्णचन्द्रके समीप भेजने लगे। गोपबालक तो पहले भी आते ही थे! सम्मेलन-समारोहके दिन ही इन बालकोंका श्रीकृष्णचन्द्रसे गठबन्धन हो चुका था। पर अब तो उन्हें व्रजेश्वरकी ओरसे एवं पिताओंकी ओरसे विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा है। अब उन्हें यह आशङ्का नहीं कि खेलनेके बीचसे ही कभी घरके अभिभावक हमें उठा ले जायँगे। उनके उल्लासकी सीमा नहीं। प्रतिदिन नवीन उमंगें लेकर वे बालक श्रीकृष्णके समीप आते हैं। आज भी उनका उत्साह देखने योग्य ही है। उनसे आवृत होकर बलरामके नायकत्वमें श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकोलाहल करते हुए नन्दोद्यानमें प्रवेश कर रहे हैं।

उद्यानके सुरम्य सरोवर-तटपर यह सखागोष्ठी जा पहुँचती है। गोपबालक अलग-अलग प्रचुर परिमाणमें धूलि एकत्र करते हैं। श्रीकृष्ण भी अपनी छोटी-सी अञ्जलि भर-भरकर धूलिस्तूप निर्माण करते हैं। फिर उस स्तूपको यथायोग्य बिखेरकर प्राचीर, पुर, गृह आदिकी रचना करते हैं। श्रीदामने भी श्रीकृष्णका अनुकरण करते हुए वैसे ही सुन्दर प्राचीर, उतना ही बड़ा पुर, उतने ही ऊँचे गृह बनाये और विजयोल्लासमें भरकर वह श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर देखने लगा। श्रीकृष्ण हँसते हुए अतिशय शीघ्रतासे उठे; उन्होंने श्रीदाम-निर्मित प्राचीर, पुर, गृहपर अपना हाथ फेरकर उन्हें गिरा दिया। बस, अविलम्ब ही श्रीदामने भी लपककर श्रीकृष्णकी रचना मिटा दी। अन्य बालक हँसते हुए ताली पीटने लगे। श्रीकृष्णके मुखपर लज्जा छा गयी तथा श्रीदामके मुखपर भर गया विजयगर्व। श्रीकृष्ण अत्यन्त तत्परतासे पुनः धूलिराशि बटोरकर गृहनिर्माणमें लगे; किंतु इस बार आर्द्रधूलि किञ्चित् शुष्क हो जानेके कारण टिक नहीं रही है, प्राचीर बन नहीं पा रहा है। अत्यन्त परिश्रम करनेपर किसी प्रकार टेढ़ा-मेढ़ा प्राचीर तो बन भी गया, किंतु पुरकी रचना नहीं ही

हो सकी। इसी बीचमें अन्य गोपबालकोंके अपनी-अपनी रुचिके अनुरूप घरौंदे बन चुके हैं, केवल श्रीकृष्णचन्द्र ही असफल हो रहे हैं। उनके मनके अनुरूप पुर, गृह इस धूलिस्तूपमें मूर्त्त हो नहीं रहा है। वे बनाते हैं और ढाह देते हैं; फिर गढ़ते हैं और फिर तोड़ देते हैं। इस पुरनिर्माणके उद्यममें उन्हें अत्यन्त परिश्रम हो रहा है। श्यामकलेवर घर्माक्त हो चुका है; प्रस्वेद-कण भालपर, कपोलोंपर झल-झल करने लगे हैं। इस अभूतपूर्व लीला-कौतुकका दर्शन कर स्वर्गनिवासी देवगणके आनन्दकी, आश्चर्यकी सीमा नहीं है! वे सोच रहे हैं—

यद्दीयो भ्रूभङ्गः कति न जगदण्डानि शतशः
प्रसूते सम्याति क्षपयति न तत्र प्रयतते।
स एवायं धूलीपुरगृहविनिर्माणरभसे
भृशं श्रान्तः स्विन्नस्तदपि न विरामं रचयति॥
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

ओह! जिन्हें स्वयं प्रयत्न नहीं करना पड़ता, जिनका भ्रूभङ्गमात्र ही न जाने कितने शत-शत विश्वब्रह्माण्डोंकी सृष्टि करता है, रक्षा करता है और पुनः उनका संहार कर डालता है, वे ही श्रीकृष्णचन्द्र आज धूलिके द्वारा पुर, गृह-निर्माण करने जाकर अत्यन्त परिश्रान्त हो रहे हैं, उनका समस्त शरीर प्रस्वेदसे लथपथ हो रहा है तथा उसपर भी वे अपनी चेष्टाका विराम जो नहीं कर रहे हैं! अस्तु!

श्रीकृष्ण चिन्तित-से हो गये; क्योंकि पुरनिर्माणकी बारंबार चेष्टा अबतक विफल जो हो रही है, अन्य गोपबालक हँस जो रहे हैं। इसलिये अब अपनी लज्जाका निवारण करनेके लिये, इस प्रसङ्गको बदलनेके उद्देश्यसे उन्होंने एक नवीन युक्तिकी अवतारणा की। वे एक मृत्तिकाखण्ड उठा लेते हैं तथा उठाकर मुखमें रख लेते हैं। उनका यह करना था कि गोपबालकोंके मनोभाव बदल गये। उनकी कौतुकमयी वृत्ति कुछ समयके लिये तिरोहित हो गयी। वे परस्पर चर्चा करते हुए बोले—"भैयाओ! श्रीकृष्णने तो मिट्टी खा ली है। तुम्हें स्मरण होगा, अरे, उसी दिनकी तो बात है, श्रीकृष्णने इसी उद्यानमें उस वनफलको तोड़कर अपने मुखमें रख लिया था, मैयाने देख लिया था; वे दौड़ी आयीं; मुखसे वह फल बाहर निकाल फेंका तथा हम सबसे कह गयीं कि 'पुत्रो! श्रीकृष्णको मेरी आज्ञा बिना कोई नवीन वस्तु खाने मत देना; और यदि वह खा ले तो अविलम्ब मुझे सूचना देना।' तो इसने तो अभी हमारे देखते-देखते मुखमें एक मिट्टीका ढेला रख लिया है; पता नहीं, क्या परिणाम हो। मैयाको बुला लाओ, कम-से-कम सूचना तो दे ही दो।" इस प्रकार परामर्श करके चार गोप-बालक तो व्रजेन्द्रगेहिनीके समीप दौड़ गये, श्रीदाम उनका नेता बनकर गया। आज सर्वप्रथम उसीके धूलि-घरौंदेको श्रीकृष्णने छिन्न-भिन्न किया था, उसी समय श्रीकृष्णका उससे किंचित् विवाद भी हो चुका था; इसीलिये वह दौड़ा गया। इधर अग्रज बलरामने जाकर श्रीकृष्णके हाथ पकड़ लिये। सम्पुटित अधरोंके अन्तरालमें अभी भी वह मृत्तिकाखण्ड है, यह श्रीबलरामको अनुभव हो रहा था। इसीसे वे उसे उगल देनेका आग्रह करने लगे। किंतु श्रीकृष्णचन्द्रने आज अग्रजकी भी उपेक्षा कर दी। नेत्रोंमें रोष भरकर श्रीबलरामने धमकाया भी, पर वे तो आज उस मिट्टीको उदरस्थ करनेपर तुले हुए दीखते हैं। मानो विश्वनिवास श्रीकृष्णचन्द्रको अपनेमें अवस्थित प्राणिसमुदायकी स्मृति हो आयी हो, अपने उदरमें अवस्थित निजजनोंके परम प्रिय मनोरथकी उन्हें सुधि हो आयी हो, अपनी ही कुक्षिमें निवास करनेवाले अनन्य-निर्भर प्राणियोंकी यह चिरंतन प्रार्थना श्रीकृष्णचन्द्रके प्राणोंमें आज पुनः झंकृत हो उठी हो—'मेरे नाथ! तुम्हारे चरणारविन्दका मकरन्द पान करके भी एक अभिलाषा और अवशिष्ट रही है। वह यह कि प्रभो! इस व्रजपुरकी गोखुरक्षुरित रजका, इन व्रज-सुन्दरियोंकी चरणरजका एक कण कदाचित् हमें भी प्राप्त हो जाय! ओह! व्रजपुरके नीले आकाशमें उड़ती हुई रजका दर्शन करके सुरेन्द्र,—सुरवृन्दके

प्राण उत्कण्ठित हो जाते हैं कि एक बार किसी एक रज-कणिकासे हमारे मस्तकका अभिषेक हो जाय! आह! असत् पुरुषोंके लिये तो यह सर्वथा अलभ्य है, स्वप्नमें भी इस रजकी छायातक उनके मनमें उदय नहीं हो सकती। दयामय! हे करुणार्णव! सनक-सनन्दन आदि महान् योगीश्वरोंकी भी निरन्तर परम ध्येय वस्तु—उनके ध्यानमें नित्य विराजित इस गोरजका, गोप-सुन्दरियोंकी पादरजका स्पर्श एक बार हमें भी मिल जाय!' मानो इस प्रार्थनाने ही इस समय श्रीकृष्णचन्द्रके कृपासागरको तरङ्गित कर दिया हो; इस परम पवित्र शुभ अभिलाषासे ही करुणा-समुद्र लहराने लगा हो, दयासागरकी एक कृपालहरी ही उस मृत्तिकाखण्डको बहा लायी हो, लाकर श्रीकृष्णचन्द्रके हस्तकमलोंपर रख गयी हो और वे उन अन्तर्वर्ती आश्रितजनोंका मनोरथ पूर्ण करनेके लिये ही किंचित् रज:कण खा गये हों, नहीं-नहीं, मुखकमलके पथसे गोपिकाचरणपराग उनके समीप प्रेषित कर रहे हों—

यत्स्पृह्यं त्रिदशैरलभ्यमसतां ध्येयं च यद्योगिनां
प्राप्तं स्यात् किमु तद्रजो व्रजगतं गोगोपिकापादगम्।
इत्थं भूरि निजोदरस्थजनसद्वाञ्छां चिरं चिन्तयन्
मन्ये पूर्णदयार्णवः किमकरोत्तद्भक्षणं तत्कृते॥

(श्रीहरिसूरिविरचितभक्तिरसायनम्)

कुछ भी कारण हो, अनुजको अपनी अवज्ञा करते देखकर श्रीबलराम भी रोषमें भर गये; पर वश नहीं चलता था। करें तो क्या करें? मन्द-मन्द मुसकानसे समन्वित सम्पुटित अधरोंको वे जब खोलने जाते तो श्रीकृष्ण उनका हाथ पकड़ लेते और बलराम भी हाथ छुड़ा नहीं पाते! पता नहीं बलरामका बल भी आज क्या हो गया! अतः वे भी कुपित होकर जननीके आनेकी प्रतीक्षा करने लगे। इधर गोपबालक भी जा ही पहुँचे। व्रजरानी अपने नीलमणिका परिधान-वस्त्र सहेज रही हैं। जाते ही प्रतिशोधकी भावनासे स्फुरिताधर हुआ श्रीदाम व्यङ्गभरे स्वरमें बोल उठा—

मो देखत जसुमति तेरें ढोटा अबहीं माटी खाई।

बस, व्रजरानी सुनते ही उठ खड़ी हुईं। आज प्रथम बार पुत्रके प्रति जननीके नेत्रोंमें किंचित् रोषका संचार हो जाता है। वे सोच रही हैं—'अरे! नीलमणि तो मिट्टी खाना सीख गया! नहीं-नहीं, अभी तुरंत शासन करना अनिवार्य है, जिससे मूलमें ही ऐसे दोषकी जड़ नष्ट हो जाय। मिट्टी खानेवाले शिशुओंको तो अनेक रोग हो जाते हैं, मिट्टी खाकर नीलमणि यदि रुग्ण हो गया तो?.....' अविलम्ब व्रजमहिषी उद्यानमें जा पहुँचती हैं, मल्लिका-लताकी एक छोटी-सी डाली शीघ्रतासे तोड़कर हाथमें ले लेती हैं, तथा दूसरे हाथसे श्रीकृष्णकी भुजा पकड़ लेती हैं।

व्रजरानीकी मुखमुद्रा एवं उनके हाथमें छड़ी देखकर श्रीकृष्ण सहसा अत्यन्त भयभीत हो जाते हैं। उनके भीतिविजड़ित नयनोंकी श्याम पुतलियाँ नाच उठती हैं। वास्तवमें तो इन घूर्णित नयनोंके रूपमें आदिपुरुषके नेत्रस्वरूप चन्द्र-सूर्य ही चञ्चल हो उठे हैं। सूर्य-चन्द्रको सम्भ्रमयुक्त चिन्ता हो रही है, वे सोच रहे हैं—'ओह! हमने दर्शन किये हैं, हम साक्षी हैं, प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रने मृद्भक्षण किया अवश्य है; पर देखें, जननीके समक्ष वे क्या कहते हैं!' इस चिन्तासे ही चन्द्र-सूर्य भ्रमित हो रहे हैं—

भुक्तवापि मृत्तिकां मातुरग्रे किं वा वदेदयम्।
इत्यक्षिरूपौ चन्द्रार्कौ साक्षिणौ भेमतुस्तदा॥

(श्रीहरिसूरिविरचितभक्तिरसायनम्)

श्रीकृष्णहितकाङ्क्षिणी यशोदारानी भर्त्सनाके स्वरमें बोलीं—

चपल! किमिदं दुश्चरितमाचरितम्?

(श्रीगोपालचम्पूः)

'अरे चञ्चल! तुमने यह क्या अनुचित चेष्टा की है?'

श्रीकृष्णने अत्यन्त सावधान, पर अतिशय कातर स्वरमें उत्तर दिया—

मातर्न किमपि।

'मैया! मैंने तो कुछ नहीं किया है।'

जननीने इस बार किंचित् व्यङ्गभरी वाणीमें कहा—

मृत्तिकामत्ति स्म भवान्?

'अजी! आपने मिट्टी खायी है?'

श्रीकृष्ण सर्वथा त्वरापूर्ण स्वरमें बोल उठे—

क इदं वदति?

'यह कौन कहता है?'

माता—

सर्वे एव तव सवयसः।

'क्यों! सभी तुम्हारे साथी जो कह रहे हैं।'

श्रीकृष्ण—

नाहं भक्षितवानम्ब सर्वे मिथ्याभिशंसिनः।

(श्रीमद्भा०)

'मैया! मैंने तो मिट्टी नहीं खायी है, ये सभी मिथ्यावादी हैं।'

माता—

तवाप्यग्रजः सोऽयं व्यक्षयति तत्र किं वदिष्यसि?

'और तेरा अग्रज बलराम जो कह रहा है सो? इसका तेरे पास क्या उत्तर है?'

श्रीकृष्ण—

यदि सत्यगिरस्तर्हि समक्षं पश्य मे मुखम्।

(श्रीमद्भा०)

'यदि मेरा विश्वास तू नहीं करती, इन्हें ही सत्यवादी मानती है तो मेरा मुख तो तेरे सामने है ही; तू स्वयं देख ले।'

'अच्छी बात है, यदि ऐसी ही बात है तो तू अपना मुख खोल, मैं देख लेती हूँ।' यह कहकर जननी यशोदा श्रीकृष्णचन्द्रके मुखकी परीक्षा करने चलीं। अनन्त ब्रह्माण्डपति श्रीकृष्णचन्द्रने भी जननीकी आज्ञाका पालन करते हुए किंचिन्मात्र भी विलम्ब न कर अपना सम्पूर्ण मुख खोल दिया तथा भयभीत विस्फारित नेत्रोंसे जननीकी ओर देखते रहे। व्रजमहिषीने अपने वाम हस्तपर श्रीकृष्णचन्द्रका चिबुक रखा तथा दक्षिण हस्तको समुन्नत ललाटपर रखकर उनके सिरको पीछेकी ओर झुका दिया; फिर मुखगह्वरके अन्तरालमें देखने लगीं— दन्तपार्श्वमें, जिह्वाके अधोभागमें, जिह्वाके मूल-देशमें क्रमशः मृत्तिकाचिह्न ढूँढ़ने लगीं।

इस समय स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी अघटघटनापटीयसी योगमायाशक्तिके लिये अपने स्वामीकी सेवाका एक परम उपयुक्त अवसर उपस्थित हुआ। श्रीकृष्णचन्द्रमें नित्य प्रतिष्ठित रहकर योगमाया लीलारस-विस्तारकी, अघटघटनके द्वारा लीलाक्रम-समाधानकी सेवा करती हैं। वे सोच रही हैं—"जननी कुपित हैं; यदि जिह्वाके मूलमें मृत्तिका-भक्षणका अवशिष्ट चिह्न इन्होंने देख लिया तो कोप और बढ़ेगा; किंतु वर्तमान लीलाक्रममें इससे अधिक कोपके लिये स्थान है नहीं। अतः विस्मयरसमें जननीको निमग्न करके, इनके कोपको प्रशमित करते हुए भावान्तर उपस्थित कर देना तो मेरी प्रथम सेवा है। साथ ही, बाल्यलीलारसमत्त श्रीकृष्णचन्द्रके मुख-कमलसे निस्सृत वाणीकी—'मैया! मैंने मिट्टी नहीं खायी है' इस उक्तिकी परम सत्यताको प्रत्यक्ष कर देना यह द्वितीय, आनुषङ्गिक सेवा भी मुझे अभी-अभी तुरंत कर देनी है। इसीलिये, इससे पूर्व कि जननी जिह्वामूलकी ओर दृष्टिपात करें, अविलम्ब योगमायाशक्ति श्रीकृष्णके श्याम शरीरमें प्रकट हो जाती हैं, पुत्रके मुखमें मृत्तिकाचिह्न ढूँढ़नेवाली जननीको उस मुखगह्वरमें ही अनन्त मृण्मयी पृथ्वियोंसे विभूषित असंख्य विश्वब्रह्माण्डोंके दर्शन करा देती हैं। योगमाया सेवाका थाल सजा रही हैं और सोच रही हैं—'श्रीकृष्णजननि! तुम अपने नीलमणिमें एक रज-कणचिह्न देखने आयी हो? अच्छा लो, देखो! एक रजःकण ही नहीं, निखिल रजोमयी सृष्टि यहाँ पहलेसे ही वर्तमान है। व्रजरानी! बाहरकी वस्तुको मुखमें लेनेका, उदरस्थ करनेका नाम भक्षण है; तुम प्रत्यक्ष देख लो—तुम्हारे पुत्रके मुखसे, उदरसे बाहर कोई वस्तु है क्या? ऐसी कोई भी वस्तु तुम्हें बाहर दीखती है क्या, जिसे तुम्हारा पुत्र नवीनक्रमसे उदरस्थ कर ले, खा ले? जिस मृत्तिकाखण्डके भक्षण करनेका, उदरस्थ करनेका आरोप तुम्हारे नीलमणिपर है, क्या वह

मृत्तिकाखण्ड पहलेसे ही नीलमणिके मुखमें, उदरमें वर्तमान नहीं है? फिर, मैया! 'मैंने मिट्टी नहीं खायी है' तुम्हारे नीलमणिका यह कथन परम सत्य है या नहीं? 'नीलमणिने मिट्टी खायी है, एक मृत्तिकाखण्ड उदरस्थ कर लिया है—यह प्रचार मिथ्या है या नहीं?'

इस प्रकार क्षण भी न लगा और योगमायाने यशोदारानीके परम स्निग्ध, ऐश्वर्यादिसे सर्वथा शून्य वात्सल्यरस-प्रवाहके सामने—अवश्य ही प्रवाहको और भी वेगान्वित करनेके उद्देश्यसे— अपने वैभवकी एक पर्वतमाला खड़ी कर दी। व्रजरानीने मुखपरीक्षणके लिये, मृत्तिका-चिह्नका अनुसंधान पानेके लिये तालुमूलकी ओर ताका, ही था कि दृश्य बदला एवं अपने नीलमणिके मुखविवरमें जननी क्रमशः देखने लगीं—'ओह! सामने लक्षयोजन उत्तुङ्ग सुवर्णमय सुमेरु पर्वत है। मानो भूमण्डलपद्मकी यह कर्णिका हो, ऐसी इसकी शोभा है! × × × मेरुके आधारभूत हुए मन्दर, मेरुमन्दर, सुपार्श्व, कुमुद—चार गिरिराज चार दिशाओंमें सुशोभित हैं! × × × मन्दरकी गोदसे अरुणोदा प्रवाहित हो रही है! × × × मेरुमन्दरके शृङ्गसे जम्बूनदी प्रसरित हो रही है। जम्बूतटपर राशि-राशि जाम्बूनद (स्वर्ण) बिखरा पड़ा है। × × × सुपार्श्वपर एक विशाल कदम्ब है। कदम्बके कोटरोंसे पाँच मधुधाराएँ निकल रही हैं! × × × ओह! यह सामने कुमुदगिरिपर अवस्थित शतवल्शा नामक वटवृक्षकी कैसी शोभा है! वटस्कन्धसे अनेकों पयस्विनियाँ निर्गत होकर नीचेकी ओर भागती जा रही हैं। × × × यह देखो! मेरु-मूलमें अवस्थित कुरङ्ग, कुरर, कुसुम्भ, वैकङ्क आदि गिरिमालाएँ कितनी सुन्दर हैं, जैसे कर्णिका-केसर हो! × × × अब समझी! × × × मेरुको परिवेष्टित किये हुए यह समस्त जम्बूद्वीप है। जम्बूको आवृत किये हुए ये लवणोदधिकी लहरें हैं। × × × क्षार-समुद्र भी एक विशाल द्वीपसे परिवेष्टित है। अरे! यह तो प्लक्षद्वीप है! वह, वहाँ है सुवर्णमय प्लक्षतरु। × × × यह तो इक्षुरसका सागर लहरा रहा है! × × × यह शाल्मली! × × × फिर यह सुरोदधि! × × × आगे कुश है! × × घृतसमुद्र है! × × यह क्रौञ्च! × × × यह क्षीरोदधि! × × अब शाकद्वीप आया है! ओह! इतना विशाल दधिमण्डोद-सागर है! × × × पुष्करद्वीपका यही तो कनकपत्र-समन्वित बृहत् पुष्कर है! × × × यह रहा मिष्टोदक-समुद्र! × × मानसोत्तराचल! × × लोकालोक! × × × लोकालोकके ऊपर चारों दिशाएँ। ये हैं ऋषभ, पुष्करचूड़, वामन, अपराजित—चार द्विरदपति! × × × अरे! क्या ही आश्चर्य है! वायु-अग्नि-चन्द्र-तारक संनिवेशित, अतल-वितल-सुतल-तलातल-महातल-रसातल-पाताल-समन्वित भूर्लोक देख चुकी। फिर भुवर्लोक भी देख चुकी!! और अब स्वर्लोक देख रही हूँ!!! × × × निश्चय गन्धर्व-सिद्ध-किंनर-चारण-विद्याधर-मुनिगणमण्डित यह स्वर्ग ही तो मेरे नेत्रोंके समक्ष है! × × × ओह! जल है! तेज है! वायु है! आकाश है! इन्द्रियाँ हैं! मन है! पञ्चतन्मात्राएँ हैं! अहंकार है! महत्तत्त्व है! तम है! रज है। सत्त्व है! प्रत्येककी अधिष्ठात्री देवता भी है!! × × × जीव, काल, स्वभाव, कर्म एवं कर्मसंस्कारवश विचित्र नानादेहसमन्वित चर-अचर सम्पूर्ण जगत् विद्यमान है! × × × × हैं! हैं! यह कालिन्दी प्रवाहित हो रही है! × × × ओह! यह व्रजपुर आया! × × ये व्रज-गो- गोप-गोपिकाएँ हैं! × × × यह तो व्रजेन्द्रप्रासाद है! × × × अरे! यह तो उद्यान है। × × हैं! यह मेरा नीलमणि है! × × × मैं उसका मुखविवर देख रही हूँ! × × × अरे! यह क्या × × × अनन्त ब्रह्माण्ड! × × × एक-से अनन्त व्रजपुर × × × ओह! एक-से अनन्त उद्यान। एक-से अनन्त नीलमणि!! एक-सी अनन्त यशोदाएँ नीलमणिका मुखविवर देख रही हैं!!!.....

सा तत्र ददृशे विश्वं जगत् स्थास्नु च खं दिशः।
साद्रिद्वीपाब्धिभूगोलं सवाय्वग्नीन्दुतारकम्॥

ज्योतिश्चक्रं जलं तेजो नभस्वान् विय्देव च।
वैकारिकाणीन्द्रियाणि मनो मात्रा गुणास्त्रयः॥
एतद् विचित्रं सहजीवकालस्वभावकर्माशयलिङ्गभेदम्।
सुनोस्तनौ वीक्ष्य विदारितास्ये व्रजं सहात्मानमवाप शङ्काम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ८। ३७—३९)

व्रजमहिषीके हाथोंमें कम्प होने लगता है। छड़ी हाथसे गिर पड़ती है। वे श्रीकृष्णका हाथ छोड़कर व्याकुल हो जाती हैं—

कर ते साँटि गिरत नहिं जानी, भुजा छाँड़ि अकुलानी।

व्रजरानी 'नारायण! नारायण!!' उच्चारण करने लगती हैं। साथ ही सोचती जा रही हैं—'मैं क्या स्वप्न देख रही हूँ? या मेरे नारायणदेवकी यह माया है? अथवा मेरी बुद्धिमें ही कुछ विलक्षण मोह हो गया है? मेरे नीलमणिमें ही ऐसी कोई जन्मजात सिद्धि तो नहीं है? ओह! कुछ भी समझ नहीं पाती।'

श्रीकृष्णचन्द्रको गोदमें उठाकर जननी चल पड़ती हैं। अन्तर्हृदयमें झञ्झावात प्रवाहित हो रहा है। पर ऊपर किसीको इसका अनुमानतक नहीं। केवल इतना ही लक्षित हो रहा है कि जननी अन्यमनस्का-सी होकर पुत्रको लिये जा रही हैं।

योगमायाने जवनिका गिरा दी है, पर जननीका मन अभी भी उस दृश्यमें ही उलझा हुआ है। नाना प्रकारके संकल्प-विकल्प मनमें उठ रहे हैं। पर किससे कहें? व्रजेन्द्र तो गोष्ठ गये हुए हैं। मन विक्षिप्त होता जा रहा है; क्योंकि वे अनुभव कर रही हैं, मैं इच्छा करते ही अपनी अँगुलियोंसे नीलमणिका मुख ढँकनेमें समर्थ हो रही हूँ। पर साथ ही अभी-अभी इतने छोटे मुखविवरमें ही मैंने अनन्त ब्रह्माण्ड देखे हैं। कभी-कभी यह मनमें आ रहा है कि कदाचित् आसुरी माया ही तो यह नहीं है। तथा इसीलिये मैयाने अनेकों उपचार भी आरम्भ करवा दिये हैं, स्वयं रक्षोघ्नमन्त्रोंसे जल अभिमन्त्रितकर श्रीकृष्णचन्द्रके मुखमें डाल रही हैं—

देखौं री जसुमति बौरानी।
घर-घर हाथ दिखावति डोलति, गोद लियें गोपाल बिनानी॥
जानता नाहिं जगतगुरु माधौ, इहिं आये आपदा नसानी।
जाकौ नाउँ, सक्ति पुनि जाकी, ताकौं देत मंत्र पढ़ि पानी॥
अखिल ब्रह्मांड उदरगत जाकें, जाकी जोति जल-थलहिं समानी।
सूर सकल साँची मोहि लागति, जो कुछ कही गर्ग मुख बानी॥

कठिनता यह है कि व्रजसुन्दरियोंको पूरा-पूरा अनुमान भी नहीं हो रहा है कि जननीने क्या देखा है। वे व्रजरानीका प्रत्येक आदेश तो पालन कर रही हैं, पर श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर देखनेपर किसी भी गम्भीर परिस्थितिकी कल्पना वे कर नहीं पा रही हैं। जो हो, व्रजरानी श्रीकृष्णचन्द्रको लिये नारायण-मन्दिरमें चली जाती हैं। पुत्रको मन्दिरद्वारपर बिठाकर स्वयं माथा टेक देती हैं। अश्रुपूरित नेत्रोंसे प्रार्थना करने लगती हैं—'देव! मैं तुम्हें भूल गयी हूँ, इसीलिये यह सारा अनर्थ है। तुमने ही मुझे नीलमणिका दान दिया है, नीलमणि वास्तवमें तुम्हारी ही वस्तु है; किंतु मैं उसे अपना मान बैठी। यह यशोदा मैं हूँ, ये व्रजेन्द्र मेरे पति हैं, यह नीलमणि मेरा पुत्र है, व्रजेन्द्रकी समस्त सम्पत्तिकी मैं स्वामिनी हूँ, उनकी मैं धर्मपत्नी हूँ, ये गोपियाँ मेरी हैं, ये गोप मेरे हैं, यह अपार गोधन मेरा है—इस प्रकार अहंता-ममतासे युक्त होकर मैं तुम्हें भूल गयी, अहंता-ममतारूपी कुमतिसे आच्छादित हो गयी। नाथ! तुम्हारी मायासे मोहित होनेपर ही ऐसी कुमति घेर लेती है। इसलिये हे मायापति! तुम्हीं मेरे शरण्य हो। नीलमणिकी रक्षा तुम्हीं करना।'

इस प्रार्थनाके समाप्त होते-न-होते श्रीकृष्णचन्द्रके बन्धूकसदृश अधरोंपर मन्द मुसकान छा जाती है। उस मुसकानके अन्तरालसे पुत्रस्नेहमयी वैष्णवी मायाका प्रादुर्भाव होता है, वे अपने अञ्चलकी बयारसे व्रजमहिषीका अश्रुमार्जन करती हैं। योगमायाने अपने वैभवको तो कभीका छिपा लिया था। रूपान्तरित होनेसे पूर्व वे व्रजरानीके स्मृतिपटपर अङ्कित इस विश्वदर्शनके संस्मरणको भी पोंछ डालती हैं। व्रजेन्द्रगेहिनीको इस विचित्र घटनाकी सर्वथा विस्मृति हो जाती है, उनकी वात्सल्यधाराके सामने आया हुआ ऐश्वर्य-पर्वत सहसा

विलुप्त हो जाता है; वात्सल्यपयस्विनी सागर बन जाती है, उसमें लहरें उठने लगती हैं; एक लहरी श्रीकृष्णचन्द्रको उठाकर जननीकी गोदमें रख देती है और दूसरीके प्रवाहमें व्रजमहिषी श्रीकृष्णचन्द्रको लिये बह जाती हैं—

इत्थं विदिततत्त्वायां गोपिकायां स ईश्वरः।
वैष्णवीं व्यतनोन्मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः॥
सद्योनष्टस्मृतिर्गोपी साऽऽरोप्यारोहमात्मजम्।
प्रवृद्धस्नेहकलिलहृदयाऽऽसीद् यथा पुरा॥
(श्रीमद्भा० १०। ८। ४३-४४)

इस घटनाके अनन्तर आज व्रजरानीका श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति एवं श्रीकृष्णका जननीके प्रति इतना अधिक आकर्षण बढ़ गया है कि व्रजसुन्दरियाँ चिन्ता करने लगती हैं—कहीं यशोदारानी पगली तो नहीं होती जा रही हैं। स्वयं रोहिणी एवं व्रजेन्द्र भी किञ्चित् सशङ्कित हो उठे हैं। अतिशय आश्चर्यकी बात यह हुई है कि व्रजरानीके एक चिररक्षित नियममें भी आज व्यतिक्रम हो गया। उनकी यह दिनचर्या थी कि व्रजेन्द्रकी नारायणपूजाका उपचार वे स्वयं अपने हाथों एकत्र करतीं; किंतु आज इस कार्यकी भी उन्हें विस्मृति हो गयी। तबसे निरन्तर एकमात्र पुत्रका ही लाड़ लड़ाती रही हैं। श्रीकृष्णचन्द्रसे भी गोपसखाओंने अत्यन्त आग्रह किया कि 'खेलने चलो, पर वे भी आज जननीकी गोद छोड़कर कहीं नहीं गये। कब दिन समाप्त हुआ, कब संध्या हुई, कब रात्रि आयी—यह भी जननीने नहीं जाना। रोहिणी, अग्रज एवं श्रीकृष्णचन्द्रके अतिरिक्त वे किसी औरको पहचान भी नहीं पाती थीं। अब दूसरे दिन जब उषा व्रजपुरके वनप्रान्तरपर अपने कोषका समस्त सौन्दर्य बिखेर दे रही है, उस समय यशोदारानी प्रकृतिस्थ हुई हैं, भावसमाधिसे जागकर श्रीकृष्णचन्द्रको जगा रही हैं—

जागिये गोपाल लाल, आनँद-निधि नंद-बाल,
जसुमति कहै बार-बार, भोर भयौ प्यारे।
नैन कमल-दल बिसाल, प्रीति-बापिका-मराल,
मदन ललित बदन उपर कोटि वारि डारे॥
उगत अरुन बिगत सर्बरी, ससांक किरन-हीन,
दीपक सु-मलीन, छीन-दुति समूह तारे।
मनौ ज्ञान-घन-प्रकास, बीते सब भव-बिलास,
आस-त्रास-तिमिर, तोष-तरनि-तेज जारे॥
बोलत खग-निकर मुखर, मधुर, होइ प्रतीति सुनी,
परम प्रान-जीवन-धन मेरे तुम बारे।
मनौ बेद बंदीजन सूत-बृंद मागध-गन,
बिरद बदत जै जै जै जैति कैटभारे॥
बिकसत कमलावली, चले प्रपुंज गंजरीक,
गुंजत कल कोमल धुनि त्यागि कंज न्यारे।
मानौ बैराग पाइ, सकल सोक-गृह बिहाइ,
प्रेम-मत्त फिरत भृत्य, गुनत गुन तिहारे॥
सुनत बचन प्रिय रसाल, जागे अतिसय दयाल,
भागे जंजाल-जाल, दुख-कदंब टारे।
त्यागे भ्रम-फंद-द्वंद निरखि कै मुखारबिंद,
सूरदास अति अनंद, मेटे मद भारे॥

फल-विक्रयिणीपर कृपा

कदली-बदरी-पीलू-नारङ्ग आदि विविध फलोंसे परिपूरित टोकरीको फल-विक्रयिणीने अपने सिरसे उतारा, उतारकर भूमिपर रख दिया तथा वहीं अश्वत्थकी शीतल छायामें वह विश्राम करने लगी। एक तो वृद्ध शरीर, दूसरे बोझल टोकरीका भार—वृद्धा अत्यन्त श्रान्त हो गयी है। हेमन्तके शीतमें भी उसके ललाटपर प्रस्वेदकण झलक रहे हैं। वह अपने बिखरे हुए रजत-धवल केशोंको समेटकर, उनमें एक गाँठ लगा देती है तथा फटे आँचलकी छोरसे स्वेदमार्जन करती है। वह जहाँ बैठी है, उसके ठीक सामने प्रासादसे संलग्न व्रजेशकी क्षेत्रवाटिका (खलिहान) है। नवधान्यके अंबार लगे हैं। फल-विक्रयिणी इन्हीं अगणित विशाल धान्यस्तूपोंकी ओर देखने लग जाती है।

अब तो मध्याह्न हो चुका है। जिस समय अरुणोदय ही हुआ था, ओसबिन्दु सर्वत्र बिखरे पड़े थे, उस समय फल-विक्रयिणी अपने घरसे चली थी। तबसे वह 'फल ले लो जी, फल' यह पुकार लगाती हुई व्रजपुरकी वीथियोंमें घूमती रही है। राजपथके दोनों पार्श्वोंमें अवस्थित श्रेणीबद्ध उत्तुङ्ग मणिमय भवनोंके द्वारपर जा-जाकर उसने अनेकों बार गोपशिशुओंका ध्यान आकर्षित करनेकी चेष्टा की। पर दैवकी लीला! आज किसी ग्राहकका दर्शन नहीं हुआ, किसी गोपशिशुने उसके आह्वानका उत्तरतक न दिया; कोई भी व्रजपुरन्ध्री फलका सौदा करने नहीं आयी, किसी भी चञ्चल गोपबालकने मोलतोल करनेका खेलतक नहीं किया। अभीतक बोहनी ही नहीं हुई है। फल-विक्रयिणीके मुखपर निराशा छा जाती है। वह सोचने लगती है—क्या आजका दिन ऐसे ही समाप्त होगा? पता नहीं, किसका मुख देखकर उठी थी! इसी समय अश्वत्थपत्र चञ्चल हो उठते हैं, मानो संकेत कर रहे हों—"नहीं, नहीं, फल-विक्रयिणी! निराश मत हो। अरे! आज तो तेरे जीवन-सौभाग्यका परम पुनीत सर्वोत्तम समुज्ज्वल प्रभात है। ओह! जिनके सामने अनन्त विश्वब्रह्माण्डके प्राणी फलदानके लिये हाथ पसारते हैं, जो मुक्तहस्त होकर अनादिकालसे सबको फलदान कर रहे हैं, वे तुम्हारे सामने फल लेनेके लिये हाथ पसारेंगे, अखिल भुवन-फलदाताको तू आज फल-दान करेगी। ओह! अनादिकालसे कर्मफलका भार सिरपर उठाये तू घूम रही है, निरन्तर घूम रही है, आजतक किसीने भी तेरा फल लेकर तुझे इस भारसे निर्मुक्त नहीं किया; किंतु आज तुझे एक अनोखा ग्राहक मिलेगा, अप्रत्याशित अपरिसीम मूल्य चुकाकर तेरा सारा फल ले लेगा; इस अनादि फलभार-वहनसे तू आज सदाके लिये त्राण पा जायगी, परम कृतार्थ हो जायगी!" अस्तु।

क्षेत्रवाटिकाकी अपार धान्यराशिकी ओर देखकर वृद्धाने फिर सोचा—तो क्या इसका एक कण भी मेरे भाग्यमें आज नहीं है? बस, इसी क्षण मानो इसीके उत्तरमें, 'अरी! एक कण नहीं, आज तो इस समस्त धान्य-लक्ष्मीका स्वामी स्वयं तेरे भाग्यमें आ रहा है।' यह इङ्गित करते हुए-से, धान्यस्तूपोंके समीप प्राङ्गणमें बैठे हुए श्रीकृष्णचन्द्रने अभी-अभी अपने हाथों बनाये हुए धान्य-घरौंदोंको मिटा दिया तथा इधर-उधर अञ्जलि भर-भरकर धान बिखेरने लग गये। वृद्धा जब अश्वत्थकी छायामें आयी भी न थी, उसके पूर्व ही श्रीकृष्णचन्द्र नन्दभवनके उत्तरद्वारसे निकलकर धान्यस्तूपोंके समीप आ गये हैं और धान्यक्रीड़ा कर रहे हैं। इस समय वे एकाकी आये हैं; अवश्य ही दूरपर व्रजरानीके द्वारा नियुक्त परिचारिकाएँ छिपकर उनकी यह परम मनोहर बाल्यचेष्टा देख रही हैं।

फल-विक्रयिणी अपने चिर-अभ्यस्त, आकर्षणभरे स्वरविशेषके साथ पुनः पुकार उठी—'फल ले लो जी, फल।' श्रीकृष्णचन्द्रने भी यह पुकार सुन ही ली। धान बिखेरना छोड़कर चञ्चल नेत्रोंसे, जिधरसे यह

पुकार आयी है, उसी ओर वे देखने लगते हैं। इतनेमें फिर वही पुकार सुनायी पड़ती है—'कोई फल ले लो, फल।' इस बार वे अतिशय शीघ्रतासे धान्यके स्तूपसे कूदकर उसी दिशामें दौड़ पड़ते हैं। वे सोचते जा रहे हैं—'फल क्या होता है? चलें, लेकर देखें तो सही?'

प्रत्युत्तर पानेकी प्रतीक्षामें फलवाली नन्दभवनकी ओर ही देख रही है। सहसा उसने देखा—वाटिका-प्राचीरके क्षुद्र द्वारपर एक बालक खड़ा है; बालक नव नीरदवर्ण है, उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसे शोभाका निर्झर झर रहा है—

बिथुरी अलकैं रहीं मुख पर बिनहिं बयन सुभाइ।
देखि कंजनि चंद के बस मधुप करत सहाइ॥
सजल लोचन चारु नासा परम रुचिर बनाइ।
जुगल खंजन करत अबिनति बिच कियौ बनराइ॥
अरुन अधरनि दसन झाईं कहौं उपमा थोरि।
नील पुट बिच मनौ मोती धरे बंदन बोरि॥
सुभग बाल-मुकुंद की छबि बरनि कापै जाइ।
भृकुटि पर मसि-बिंदु सोहै, सकै सूर न गाइ॥

छबि देखकर फलवालीके नेत्र निमेषशून्य हो गये। कुछ क्षणके लिये वह सब कुछ भूल गयी। जब बाह्यज्ञान हुआ तो देखा—हृदय अत्यन्त वेगसे स्पन्दित हो रहा है; पर अन्य अवयव चैतन्यविहीन-से हो गये हैं, सर्वथा जड बन गये हैं। और वह बालक····वह तो अभी भी ज्यों-का-त्यों वहीं द्वारपर खड़ा है तथा अपनी दक्षिण भुजा उठाकर, अङ्गुलियोंको हिला-हिलाकर मुझे ठहरनेके लिये संकेत कर रहा है।

वृद्धाने पुलिन्दनिवासस्थलीमें—अपने ग्राममें व्रजेशपुत्रके अतुल सौन्दर्यकी चर्चा सुनी है, पर अबतक देख न सकी थी। दर्शनका यह प्रथम अवसर है; किंतु देखते ही वह अविलम्ब जान गयी कि ये ही नन्दपुत्र हैं। अतृप्त नयनोंसे वह उनकी ओर देखती रहती है। उसके प्राणोंमें कम्पन हो रहा है, नेत्रोंमें जल भरता जा रहा है; वह चाहती है कि एक बार पुकारकर कहूँ—'नन्दलाड़िले! इधर आओ।' पर कण्ठ सर्वथा रुद्ध-सा हो गया है, वाक्-शक्ति सुप्त हो गयी है। निरुपाय, विवश, व्याकुल हुई वह वहीं चित्रलिखी-सी रह जाती है।

श्रीकृष्णचन्द्र द्वार लाँघकर उसकी ओर चल पड़ते हैं। पगके नूपुर 'रुनझुन-रुनझुन' करने लगते हैं। कदाचित् यह 'रुनझुन' कोई सुन तो नहीं रहा है, मेरा बाहर जाना जननीके द्वारा नियुक्त दासियोंने जान तो नहीं लिया है—इस आशङ्कासे श्रीकृष्णचन्द्र अपने चञ्चल नेत्रोंको चारों ओर घुमा-घुमाकर देखते जा रहे हैं। शीघ्र ही अलिन्दको पार करके वे फलवालीके समीप जा पहुँचते हैं। उनको अपने निकट आया देखकर फलवालीके रोम पुलकित हो उठते हैं। उसका आनन्द-विगलित हृदय आँसू बनकर नेत्रोंके पथसे बह चलता है। श्रीकृष्णचन्द्र आश्चर्यमें भरकर सोचने लगते हैं—यह रोने क्यों लगी?

भावतरङ्गिणीके बढ़ते हुए वेगको किसी अचिन्त्यशक्तिने उद्देश्यविशेषसे कुछ क्षणके लिये मानो सहसा रोक-सा दिया हो, इस प्रकार फल-विक्रयिणीको कुछ धैर्य हो आता है। वाणीकी शक्ति भी जाग उठती है। फिर भी भीतर-ही-भीतर आँसू तो उमड़े ही आ रहे हैं। अश्रुपूरित कण्ठसे ही वह बोली—'फल लोगे?' तथा उत्तरमें श्रीकृष्णचन्द्रने अपने घनकृष्ण-कुञ्चित-कुन्तलराशि-मण्डित सिरको स्वीकृतिकी मुद्रामें हिलामात्र दिया। इस मस्तकसंचालनने तो मानो पुनः फल-विक्रयिणीके हृदयको मथ डाला। वह इस अप्रतिम बाल्यभङ्गिमाको देखकर पुनः अधीर हो उठी। भाव-संवरण न कर सकनेके कारण उन्मत्त-सी हो उठी। फलकी टोकरीको सिरपर उठा लिया। अबतक बैठी थी, पर अब उठ खड़ी हो जाती है। क्या करने जा रही है, यह स्वयं नहीं जानती। फलकी टोकरी सिरपर लिये वह खड़ी है, नेत्रोंसे अश्रुके प्रवाह बह रहे हैं, कुछ भी बोल नहीं रही है—एक विचित्र-सी मुद्रा धारण किये, श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर दृष्टि लगाये कभी-कभी कुछ संकेत-सा कर

देती है। क्या कहना चाहती है, यह कौन जाने?

किंतु फल-विक्रयिणीकी इस मुद्रासे बाल्यलीला-रस-मत्त श्रीकृष्णचन्द्रको संदेह होने लगता है कि कहीं यह फल लेकर जा तो नहीं रही है। पीले केले, पीले बेर, सरस पीलू, अरुण नारङ्गको टोकरीमें सजा देखकर फल क्या वस्तु है, यह तो वे जान ही गये हैं; साथ ही इन्हें लेनेके लिये उनका मन पहलेसे भी अधिक लोलुप हो गया है। पर यह यदि चली गयी तो फिर फल कैसे मिलेंगे? इसीलिये श्रीकृष्णचन्द्र अतिशय अधीर कण्ठसे तुरंत पुकार उठते हैं—'री! मैं फल लूँगा, फल!'

जैसे किसीने कर्णपुटोंमें अमृत उँड़ेल दिया हो, प्राणोंमें दिव्यातिदिव्य मधुकी धारा बहा दी हो—इस प्रकार अनुभव करती हुई फल-विक्रयिणीने श्रीकृष्णचन्द्रकी यह सुमधुर वीणाविनिन्दित ध्वनि सुनी, उसके अन्तस्तलमें प्रवाहित भाव-स्रोतस्विनीका इस मधुधारासे संगम हो गया। यह मधुधारा सामान्य नहीं, अत्यन्त गम्भीर है। इसने भाव-स्रोतस्विनीको, स्रोतस्विनीकी चञ्चल तरङ्गोंको आत्मसात् कर लिया। अभी-अभी जो कल्लोलिनी हिलोरें ले रही थी, उसमें आवर्त उठ रहे थे—वे सब-के-सब श्रीकृष्णचन्द्रके मुखारविन्दसे निस्सृत इस मधु-सुधा-धारामें विलीन हो गये, तद्रूप हो गये। फल-विक्रयिणी प्रकृतिस्थ हो गयी। समाधिसे जागी हुई-सी उसने सिरसे फलकी टोकरी उतारकर श्रीकृष्णचन्द्रके समीप रख दी। अभी भी उसके कानोंमें गूँज रहा है—'री, मैं फल लूँगा।'

श्रीकृष्णचन्द्र पुनः उसी वीणाविनिन्दित स्वरमें बोल उठे—'री! सुनती नहीं? फल दे, मैं फल लूँगा।' इस बार फलवालीमें भी उत्तर देनेकी शक्ति लीलाशक्तिने ही भर दी। वह बोली—'नन्दपुत्र! तुम फल लोगे? अच्छी बात है। फल लो, मैं तुम्हें फल अवश्य दूँगी। पर यह बताओ, फलके मूल्यमें मुझे क्या दोगे?' यह कहते-कहते ही फलवालीका कण्ठ पुनः भर आता है। श्रीकृष्णचन्द्र भी चकित-से होकर उसकी ओर देखने लगते हैं; क्योंकि 'मूल्य' क्या वस्तु है, यह वे समझ नहीं पाते। ओह! 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्'—श्रुतिसे निर्दिष्ट किये जानेवाले परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रका यह बाल्यावेश, यह बाल्यलीला-रसमत्तता कितनी मोहक है!

श्रीकृष्णचन्द्रने इस बार अत्यन्त उतावलीभरे स्वरमें कहा—'मूल्य! मूल्य क्या होता है? यह तो मैं जानता ही नहीं। तू फल तो मुझे दे।' उत्तरमें फलवाली भी उतनी ही शीघ्रतासे बोल गयी—'नन्दलाड़िले! कोई वस्तु लेनेपर उसके बदलेमें कुछ देना होता है; ली हुई वस्तुके बदलेमें जो दी जाती है, उसीको मूल्य कहते हैं।' फलवालीने यह कहा ही था कि श्रीकृष्णचन्द्र तुरंत बोल उठे—'री, तू कैसी बावली है! मेरी मैया मुझे प्रतिदिन विविध मिष्टान्न, नवनीत एवं अनेक क्रीड़ासामग्री देती है; गोपियाँ भी मुझे अनेकों वस्तु देती हैं। पर मैं तो उसके बदले कभी भी कुछ भी उन्हें नहीं देता, वे माँगती भी नहीं।' इतना कहकर श्रीकृष्णचन्द्र आशाभरी मुद्रामें फलवालीकी ओर देखने लगते हैं। फलवालीके नेत्रोंमें आँसू छल-छल करने लगते हैं। एक बार अपना सारा धैर्य बटोरकर वह श्रीकृष्णचन्द्रसे पुनः कुछ कहना चाहती है, पर अब सामर्थ्य नहीं रही; हृदयका बाँध टूट गया है, अनर्गल अश्रुप्रवाह फल-विक्रयिणीके कपोल एवं वक्षःस्थलको आर्द्र बनाने लगता है।

बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्र एक बार पुनः विचारमें पड़ गये। फलवालीकी इस अनर्गल अश्रुवारिका मर्म वे ढूँढ़ने लगे। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उन्होंने तो यही मर्म निकाला कि सम्भवतः यह 'मूल्य' के लिये ही रो रही है। बस, फिर क्या था; यह विचार उदय होते ही वे क्षेत्रवाटिकाकी ओर दौड़े, संनिकटवर्ती धान्यस्तूपके पास जा पहुँचे। अङ्गुलियोंको जोड़कर उन्होंने अञ्जलि बनायी, उस अञ्जलिको धानसे भरा तथा पुनः उसी वेगसे फलवालीके समीप चल पड़े। उनकी दृष्टि फलविक्रयिणीपर ही केन्द्रित है और वे मानो अपने

सारे शरीरका बल लगाकर दौड़ रहे हैं। इसी बीचमें द्वारकी सीमा पार करनेसे पूर्व ही, बाल्य-चपलतावश अञ्जलि शिथिल पड़ जाती है, छोटी-छोटी सटी हुई अङ्गुलियाँ ढीली पड़ने लगती हैं, उनमें दो-चार छिद्र बन जाते हैं तथा क्रमशः धान गिरने लग जाता है। अलिन्दको पार करके जिस समय वे फलवालीके पास पहुँच पाते हैं, उस समय उनकी अञ्जलिमें केवल चार-पाँच धान ही बच रहते हैं। तथा जब वे उसकी टोकरीमें अपनी अञ्जलि खोलते हैं, तब केवल एक ही धान टोकरीमें गिरता है; क्योंकि अब एक दाना ही अवशिष्ट रहा है। किंतु नन्दनन्दनको यह पता नहीं, वे तो अपनी जानमें अञ्जलि भरकर धान ले आये हैं। इसीलिये उत्कण्ठापूरित स्वरमें बोल उठते हैं—'री! ले, मैं तेरे फलका मूल्य ले आया। यह धान लेकर मुझे अब फल दे दे, सारा फल दे दे; मैं सब ले लूँगा।'

इधर फलवालीकी विचित्र दशा है। जिस समय श्रीकृष्णचन्द्र धान लाने भीतर गये, दृष्टिसे ओझल हुए, उस समय उसके प्राण निकलने-से लगे। आह! नन्दपुत्र चले गये, फल लिये बिना ही चले गये। मैं हतभागिनी उन्हें फल न दे सकी—इस वेदनासे उसका शरीर, मन, प्राण—सब कुछ एक साथ जल उठा। यदि क्षणभरका विलम्ब और होता तो उसके आकुल प्राण उत्तापदग्ध जर्जर कलेवरको छोड़कर उड़ गये होते; किंतु तुरंत ही श्रीकृष्ण पुनः दीख गये तथा उन्हें देखते ही बाहर निकलते हुए प्राण शरीरमें ही लौट आये। सचमुच फलवालीने नवजीवन पाया। अवश्य ही इस बार वह सहसा अत्यन्त गम्भीर हो गयी है। आकुल प्राण सर्वथा अन्तिम दशाको छूकर, शेष सीमाको स्पर्शकर लौटे हैं। अतः भावोंका आवेग भी शान्तप्राय हो चुका है। और तो क्या, अभी-अभी हुई वेदनाकी स्मृति भी वह खो बैठी है। श्रीकृष्णचन्द्रकी रिक्त अञ्जलिसे गिरे हुए उस एक धान्यकणको वह चटपट अपने हाथमें उठा लेती है तथा उसे उनके सामने रखकर किञ्चित् अस्फुट स्वरमें कहती है—'नन्दलाड़िले! मेरे इतने फलका मूल्य क्या धानका एक ही दाना है?'

श्रीकृष्णने अब समझा कि धान तो उनकी अञ्जलिसे कहीं पथमें ही गिर गये। बङ्किम नयनोंको घुमाकर पीछेकी ओर उन्होंने देखा—धान्यकी एक रेखा-सी बन गयी है। एक साथ ही आशा-निराशा, उत्कण्ठा-अवसादकी छाया श्रीकृष्णचन्द्रके मुख-कमलको छू-सी लेती है। पर वे साहस बटोरते हुए-से अविलम्ब बोल उठते हैं—'देख फलवाली! मैं धान ले अवश्य आया था, पूरी अञ्जलि भरकर ले आया था; पर दौड़ते समय वह गिर गया। अब मैं फिर लाने जाऊँ तो सम्भवतः मैया देख लेगी, वह अब आती ही होगी। इसलिये तू मुझे आज फल दे दे। फल देकर घर चली जा। फिर किसी दिन आ जाना, मैं अवश्य इसका मूल्य तुझे दे दूँगा।' यह कहकर आशाभरी मुद्रामें वे फलवालीकी ओर देखने लगते हैं। वह भी श्रीकृष्णचन्द्रकी अत्यन्त मधुर, सरलतासे ओतप्रोत इस उक्तिको सुनकर बोली—'नन्दनन्दन! मेरे जीवनमें दूसरा दिन होगा तब तो आऊँगी·····।' कहते-कहते फलवालीके नेत्र पुनः भर आये, कण्ठ गद्गद हो गया और रुद्धकण्ठसे वह बोलती गयी—'नन्दलाड़िले! कर्मोंके फलस्वरूप विधाताने मुझे चाण्डालिनी बनाया; गोपियोंकी भाँति मेरा यह अधिकार नहीं कि तुम मेरी गोदमें आ सको, मुझे माँ कह सको; इस मलिनदेहसे यह अधिकार मिलनेकी आशा भी नहीं, कदाचित् इस जीवनके उस पार·····।' फलवाली बीचमें ही सुबुक-सुबुककर पुनः रोने लग गयी।

श्रीकृष्णचन्द्र फल-विक्रयिणीकी बातोंको अच्छी तरह समझ नहीं सके। चाण्डालिनी क्या होती है, अधिकार क्या वस्तु है—वे भला क्या जानें! पर इतना तो उन्होंने समझ ही लिया कि इसकी गोदमें चले जानेसे और 'माँ' कहनेसे यह प्रसन्न अवश्य हो जायगी—इसी तरहकी कुछ बात इसने कही है। इसलिये कुछ सोचकर वे तत्काल बोल उठे—

'अच्छा। री! सुनती है? यह बता, यदि मैं तेरी गोदमें चढ़ जाऊँ और तुम्हें 'माँ' कह दूँ तो क्या तू मुझे बिना मूल्य लिये ही फल दे देगी?' उत्तरमें बरबस फलविक्रयिणीका सिर स्वीकृतिकी सूचना देता हुआ हिल गया, उसने जानकर हिलाया नहीं। अस्तु,

श्रीकृष्णचन्द्रने एक बार चारों ओर दृष्टि डालकर देखा और फिर भुजा उठाकर, लपककर फलवालीकी गोदमें जा चढ़े तथा उसकी ठोड़ीका स्पर्श करते हुए बोले—'माँ!.....अब फल दे दे!' ओह! अगणित योगीन्द्र-मुनीन्द्र जन्म-जन्मान्तरव्यापी अथक प्रयास करके ध्यानमें भी जिनका स्पर्श नहीं पाते, श्रुतियाँ जिन्हें ढूँढ़ते-ढूँढ़ते थक जाती हैं, पर अन्त नहीं पातीं, वे ही स्वयं भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र सर्वथा साधनहीना चाण्डालिनीकी गोदमें उठकर उसे 'माँ' कहकर फल माँग रहे हैं! अनन्तकरुणार्णव! तेरे इस कृपावैभवकी जय हो!! जय हो!!!

फल-विक्रयिणी तो अखण्ड अनन्तकालीन परमानन्दसमाधिमें विलीन हो गयी। इसके पश्चात् बाह्य दृष्टिमें उसके हाथ, पैर एवं मुखसे इतनी-सी और क्रिया सम्पन्न होते हुए आकाशपथमें अवस्थित देववृन्दोंने अवश्य देखा—'तुरंत ही श्रीकृष्णचन्द्र उसकी गोदसे उतरते हैं, उसके आगे अञ्जलि फैलाकर खड़े हैं—ठीक वैसी ही अञ्जलि है, जिससे सारे धान गिर गये थे। उसी अञ्जलिमें फल-विक्रयिणी दोनों हाथोंसे फल भरने लगती है, उस छोटी-सी अञ्जलिमें ही फल-विक्रयिणीकी टोकरीके सारे फल समा गये हैं। अबतक श्रीकृष्णचन्द्रकी रिक्त अञ्जलिसे गिरा हुआ वह धान्यकण फल-विक्रयिणीकी अङ्गुलियोंमें दबा था; अब वह टोकरीमें गिर जाता है, पर गिरते ही एक अमूल्य रत्नके रूपमें परिणत हो जाता है; दूसरे ही क्षण समस्त टोकरी नानाविध अनमोल रत्नोंसे परिपूर्ण हो जाती है—

फलविक्रयिणी तस्य च्युतधान्यं करद्वयम्।
फलैरपूरयद् रत्नैः फलभाण्डमपूरि च॥
(श्रीमद्भा० १०। ११। ११)

फल-विक्रयिणी उठी, रत्नपरिपूरित टोकरीको सिरपर रखा, हाथोंसे उसने श्रीकृष्णचन्द्रको संकेत किया। उत्तरमें श्रीकृष्णचन्द्र बोले—'नहीं-नहीं, तू चिन्तित मत हो; क्या मेरी अञ्जलिसे धान गिर गये, इसलिये फल भी गिर जायँगे? इन फलोंको तो मैं खाऊँगा।' वृद्धा उन्मत्त-सी हुई चल पड़ती है, एक सरोवरके तटपर टोकरी उतारकर रखती है, निमीलितनेत्र रहकर ही हाथोंसे रत्नोंको टटोलती-सी है, फिर रत्नसहित टोकरीको सरोवरके अगाध जलमें फेंक देती है, निकटवर्ती एक गहन वनमें प्रवेश कर जाती है;—बस, इससे आगे व्रजपुरमें, पुलिन्दावासमें कहीं भी, कभी भी किसीने उस फल-विक्रयिणीको नहीं देखा।

श्रीकृष्णचन्द्र फल लेकर क्षेत्रवाटिकाकी ओर अग्रसर हुए। व्रजमहिषीके द्वारा नियुक्त परिचारिकाएँ सारी लीला देख रही थीं। रुनझुन-रुनझुन नूपुरकी ध्वनि करते हुए जिस समय श्रीकृष्णचन्द्र उत्तरद्वारसे व्रजेश-प्रासादमें प्रवेश करने लगे, उस समय दासियाँ हँसी न रोक सकीं, खिलखिलाकर हँस पड़ीं। चकित होकर नन्दनन्दन उनकी ओर देखने लगे। इसी समय यशोदारानी भी वहाँ आ पहुँचीं। पुत्रको अञ्जलिभरे फल लाते देखकर वे खड़ी हो गयीं। पास आनेपर जननीने अपने नीलमणिको गोदमें उठा लिया एवं मुख चूमकर बोलीं—

पुत्र कुत्र लब्धानि तानीमानि? (श्रीगोपालचम्पूः)

'मेरे लाल! तुमने इतने फल कहाँ पाये?' श्रीकृष्णचन्द्रने सरलता-सने किंचित् अस्फुट स्वरमें उत्तर दिया—

काचिदाचितफला धान्यानि मूल्यमादाय धन्या मयि चानुकूल्यमाधाय समर्पितवती॥ (श्रीगोपालचम्पूः)

'मेरी मैया! एक फलवाली आयी थी, फलभारसे लदी हुई उसकी टोकरी थी; सचमुच मैया, वह बड़ी

अच्छी थी। धन्य है वह, मुझे तो वह अतिशय प्यार करने लगी; उसीने मूल्यमें धान्य लेकर ये सारे फल मुझे दे डाले हैं।'

दासियोंने हँसकर व्रजेश्वरीसे कहा—'नन्दरानी! श्रीकृष्णचन्द्रको छूना मत, भला! इसने चाण्डालिनीकी गोदमें जाकर उसे 'माँ' कहा है!' मैया बोली—'विधाता करे, मेरा नीलमणि जगत्‌की सारी स्त्रियोंको माँ कहे और उनका अमोघ आशीर्वाद पाकर चिरंजीवी हो!' कहते-कहते मैयाके नेत्रकोयोंसे दो बिन्दु अश्रु ढलककर श्रीकृष्णचन्द्रके मस्तकपर जा गिरे।

इसी समय कोलाहल करते हुए सखावृन्द आ पहुँचे। जननीको श्रीकृष्णचन्द्रने फल बाँटनेके लिये कहा। आनन्दमें निमग्न हुई जननीने भी स्वयं ही अपने सुकोमल सुन्दर हाथोंसे फलोंका संस्कार किया। आनन्दावेशसे उनके हाथोंमें प्रकम्पन होने लगता है। काँपते हुए हाथोंसे ही वे फल वितरण कर रही हैं। साथ ही उन्हें अत्यन्त आश्चर्य है कि इतनी देरसे वे बाँट रही हैं, किंतु इतने-से अल्प फल समाप्त जो नहीं हो रहे हैं—

माता रामन्देनानन्देन कृतस्पन्देन करद्वन्द्वेन तानि विभजन्ती तदन्तीकृतिं नाससाद॥ (श्रीगोपालचम्पूः)

इसके कई दिन बादतक भी जननी इन फलोंका अन्त न पाकर अतिशय विस्मय करती रहीं, आश्चर्यमें डूबी रहीं; तथा जिन-जिनने इन फलोंके स्वादका अनुभव किया था, वे तो चमत्कृत रह गये। वह अत्यन्त सुमधुर, विचित्र, अद्भुत स्वाद उन्हें भूलता न था—

दिनकतिपयं विस्मयवशा स्मयमाना वसति स्म तदास्वादकाराश्च लब्धचमत्कारा न विस्मरन्ति स्म॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

उस दिन जब नन्दरानी अपने नीलमणिको बीचमें बैठाकर ग्वालबन्धुओंमें फल वितरण कर रही थीं, उसी समय एक नववधू अपनी सासकी आज्ञासे मथानी माँगने नन्दभवन आयी। श्रीकृष्णचन्द्र तो गोपबन्धुओंके साथ फलवालीके फलोंका रस लेनेमें निमग्न थे, उन्होंने उस व्रजसुन्दरीकी ओर ताकातक नहीं; पर उसने उन्हें देखा और देखते ही वह अपने-आपको खो बैठी। मथानी लेकर वह यन्त्रकी भाँति घर तो लौट आयी, पर इतनी देरमें ही उसके सारे शरीरका रंग ही बदल गया। गृहके स्वजन-परिजन सभी वधूके इस आकस्मिक परिवर्तनसे चिन्तित हो गये हैं; पर किसीको असली कारणका ज्ञान नहीं हो रहा है। वह बोलती भी नहीं है—मौन हो गयी है, जैसे गूँगी हो। एक सप्ताहतक उसकी यही दशा रहती है। आज इतने दिन बाद वह यमुनातटपर स्नान करते समय एक समवयस्का सखीको अपने इस विचित्र परिवर्तनका रहस्य बता रही है—

अद्भुत इक बितयौ हौं सजनी, नंदमहर कैं आँगन री।
सो मैं निरखि अपुनपौ खोयौ, गई मथानी माँगन री॥
बाल-दसा मुख-कमल बिलोकत, कछु जननी सौं बोलै री।
प्रगटति हँसत दँतुलि, मनु सीप्यज दमकि दुरे दल ओलै री॥
सुंदर भाल तिलक गोरोचन, मिलि मसि-बिंदुका लाग्यौ री।
मनु मकरंद अँचै रुचि कै, अलि-सावक सोइ न जाग्यौ री॥
कुंडल लोल कपोलनि झलकत, मनु दरपन में झाईं री।
रही बिलोकि बिचारि चारु छबि, परिमिति कहूँ न पाई री॥
मंजुल तारनि की चपलाई, चित चतुराई करषै री।
मनौ सरासन धरें कर स्मर, भौंह चढ़ै सर बरषै री॥
जलधि थकित जनु काग पोत कौ कूल न कबहूँ आयौ री।
ना जानौं किहिं अंग मगन मन, चाहि रही नहिं पायौ री॥
कहँ लगि कहौं बनाइ बरनि छबि, निरखत मति-गति हारी री।
सूर स्याम के एक रोम पर देउँ प्रान बलिहारी री॥

१७

दुर्वासाका मोह-भङ्ग

मखमलसे रचित पीढ़ेपर व्रजरानी बैठी हैं। उनके निकट ही अपने कमनीय अङ्गोंसे सौन्दर्य बिखेरते हुए श्रीकृष्णचन्द्र एवं बलराम प्राङ्गणमें खेल रहे हैं। उनका यह खेल देखकर जननी और सब कुछ भूल गयी हैं—

बैठी जननी मनिनि पीढ़ा पर, निकट ललन तहँ खेलैं।
गुन-मंदिर सुंदर तन साँवर, अति आनँद मन मेलैं॥
सरद इंदु राकेस बिनिंदक बदन रूपनिधि सोहै।
कोटिन ओज मनोज मनोहर त्रिभुवन लखि छबि मोहै॥
चंचल चलत चारु रतनारे ललित दृगन की आभा।
मृग खंजन गंजन मन रंजन, कहँ कंज की काभा॥
अलकैं छूटि रहीं मुख ऊपर मंजु मेघ घुँघरारीं।
कल कपोल बोलनि मृदु खोलनि भ्रकुटी कुटिल पियारीं॥
यह छबि चितै बितै दिन अपनौ, चित्त में और न आवै।
जिनि दृग रूप अमीरस चाख्यौ, कहौ और क्यौं भावै॥

चञ्चल श्रीकृष्णचन्द्रकी एवं बलरामको तो अब दिनचर्या ही हो गयी है—निरन्तर खेलना; तथा जननी यशोदाका भी एक ही कार्यक्रम रहा है—सूत्रमें बँधी हुई-सी निरन्तर पुत्रोंके पीछे-पीछे घूमते रहना—

थिर न रहत, खेलत दोउ भाई, अमित खेल अति नाथैं।
उठत चलत बैठत भ्रमि धावत अति चंचल गति साथैं॥
जहँ-जहँ फिरत जुगल मृदु प्यारे बाल खेल मति काहैं।
तहँ-तहँ जननी दृष्टि मोहसों लगी फिरत हित पाछैं॥
बाल झलनमें ललन कबहुँ मिलि जात चौहटन आगैं।
अन्तर अम्बु परत तलफत ज्यों मीन दीन दृग लागैं॥
जननी उठि टेरैं नहिं हेरैं, फेरे फिरैं न आवैं।
स्रवत छीर धारा धावैं गहि मोहन कंठ लगावैं॥

श्रीदाम, सुबल, वसन्त, कडार, अर्जुन आदि समवयस्क सखाओंको साथ लिये कभी बहुत दूर—यमुनापुलिनतक चले जाते, वहाँ शुभ्र सैकतपर लोटते रहते। कभी सघन श्याम तमाल वृक्षोंसे आवृत कालिन्दी-उपवनमें विचरते रहते, कदम्बनिर्मित कुञ्जोंसे परिशोभित उपवनमें विविध क्रीड़ा करते रहते—

श्रीदामसुबलाद्यैश्च वयस्यैर्व्रजबालकैः।
यमुनासिकते शुभ्रे लुठन्तौ सकुतूहलौ॥
कालिन्द्युपवने श्यामैस्तमालैः सघनैर्वृते।
कदम्बकुञ्जशोभाढ्ये चेरतू रामकेशवौ॥
(गर्गसंहिता)

इसी प्रकार आज भी गोपबालकोंको साथ लिये कोलाहल करते हुए वे कालिन्दीपरिसरमें अवस्थित एक अत्यन्त सुन्दर सैकतमयी भूमिपर चले आये हैं, अञ्जलिमें शुभ्र वालुका भरकर परस्पर एक-दूसरेपर बिखेरते हुए दौड़ रहे हैं। अभी आधी घड़ी पूर्वतक जननी यशोदा साथ थीं, पर अचानक व्रजेशने किसी अत्यन्त आवश्यक कार्यसे उन्हें बुलाया और वे चली गयीं। नन्दरानीने बहुत चाहा कि समझा-बुझाकर राम-श्यामको भी साथ लेते चलें; किंतु श्रीकृष्ण बालूपर पैर पटक-पटककर रोने लगे, किसी प्रकार भी खेल छोड़कर घर जानेके लिये सहमत नहीं हुए। आखिर परिचारिकाओंपर ही रक्षाका भार सौंपकर जननीको जाना पड़ा। शीघ्रातिशीघ्र लौट आनेका विचार करके जननी अकेली ही चली तो गयीं; किंतु उनका मन इस सैकतपुलिनपर ही, अपने नीलमणिमें ही उलझा रह गया।

जननीका दृष्टिसे ओझल होना था कि बस, पञ्जरमुक्त विहंगमशावककी भाँति एक साथ ही गोपबालक इधर-उधर दौड़ने लगे। परिचारिकाओंकी कौन सुनता है। परिचारिकाएँ भी श्रीकृष्णचन्द्रकी मनोहर बालक्रीड़ा देखकर मुग्ध हो रही हैं। इसके अतिरिक्त अकारण ही हस्तक्षेप भी वे क्यों करें? छोटे बालक हैं, परस्पर धूलि बिखेरकर खेल रहे हैं। इसमें हानि ही क्या है? दूर जाने लगेंगे तो पकड़ लेंगी। इस प्रकारकी भावनासे निश्चिन्त-सी होकर वे इस क्रीड़ारसका पान कर रही हैं। अस्तु, उमंगमें भरे बालक अपना मनमाना कर रहे हैं। श्रीकृष्णचन्द्रने क्या किया कि अञ्जलिमें बालू भरी तथा दौड़कर श्रीदामके पीछेसे जाकर उसके सिरपर वह बालू उड़ेल दी। एक कणिका श्रीदामकी आँखमें चली गयी। वह अपनी आँख मलता हुआ श्रीकृष्णको पकड़ने चला। श्रीकृष्ण भाग चले। वह पीछे दौड़ा और थोड़ी दूरपर ही उसने उन्हें पकड़ लिया।

श्रीकृष्णचन्द्रने हाथसे अपनी आँखें बंद कर लीं और वहीं बालूपर लेट गये। श्रीदाम हँस-हँसकर श्रीकृष्णचन्द्रकी पीठपर बालू बिखेरने लगा। उसने आरम्भ ही किया था कि पीछेसे बलराम एवं अन्य गोपशिशुओंने एक साथ ही बहुत-सी बालुका श्रीदामके सिरपर, पीठपर गिरा दी। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रको छोड़कर श्रीदाम इन गोप-शिशुओंसे जा भिड़ा। इतनेमें अवसर पाकर श्रीकृष्ण उठकर भाग गये। ठीक उसी समय अत्रिनन्दन महर्षि दुर्वासा उपवनके क्षीण पगदंडी-पथसे वहाँ आ पहुँचते हैं तथा श्रीकृष्णचन्द्रकी इस बाल्यभङ्गिमाको देख लेते हैं। मुनिवर आये ही हैं परात्पर स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शनोंकी अभिलाषा लेकर; किंतु परात्परको जिस वेषमें देखा, उसे देखकर तो वे विस्मित रह गये। ओह! ये तो धूलिमें लोट रहे हैं। यह देखो—

धूलिधूसरसर्वाङ्गं वक्रकेशं दिगम्बरम्।
धावन्तं बालकैः सार्द्धं हरिं वीक्ष्य स विस्मितः॥

(गर्गसंहिता)

समस्त अङ्ग धूलिधूसरित हो रहे हैं। केश टेढ़े-मेढ़े हो रहे हैं। श्रीअङ्गोंपर कोई वस्त्र नहीं, सर्वथा नग्न—दिगम्बर वेष है तथा बालकोंके साथ दौड़े जा रहे हैं। भला, परात्पर हरि इस रूपमें? मुनिवर आश्चर्यमें भर गये।

इतना ही नहीं, महर्षिके तपःपूत मनमें भी एक शङ्का आ गयी। भुवनमोहिनी मायाने अपने अञ्चलकी छाया डाल दी और मुनिवर भ्रान्त होकर सोचने लगे—

स ईश्वरोऽयं भगवान् कथं बालैर्लुठन् भुवि।
अयं तु नन्दपुत्रोऽस्ति न श्रीकृष्णः परात्परः॥

(गर्गसंहिता)

'क्या ये ईश्वर हैं? भगवान् हैं तो फिर प्राकृत बालककी भाँति बालकोंके साथ भूमिपर क्यों लोट रहे हैं? नहीं, ये परात्पर श्रीकृष्ण नहीं हैं। यह बालक नन्दका पुत्रमात्र है, ईश्वर नहीं! भगवान् नहीं!!'

इस प्रकार मुनिवर दुर्वासा संशयके झूलेमें झूलते हुए सत्यकी सीमाके उस पार अत्यन्त दूर जा गिरे। इधर ठीक उसी क्षण सहसा श्रीकृष्णचन्द्र क्रीड़ासे उपरत हो गये। अनसूया-जैसी सतीके पुत्र, परमतपस्वी, तेजोमूर्ति महर्षि भ्रमित हो रहे हैं; इनका भ्रमनिवारण होना चाहिये, इनपर तो कृपा होनी ही चाहिये—यह बात मानो श्रीकृष्णचन्द्रकी सर्वज्ञताशक्तिने उनके कानोंमें कह दी हो, इस तरह प्रेरित हुए-से वे महर्षिकी ओर देखने लगते हैं। अन्य गोप-शिशुओंने भी मुनिकी ओर देखा। पिङ्गल जटाभार, मुखपर उद्दीप्त तेज—गोप-बालक एक बार तो सहम गये; किंतु इसी समय श्रीकृष्णचन्द्र हँसते हुए बोल उठे—'श्रीदाम! अरे, तू तो हार गया; यदि तुझे विश्वास न हो तो चल, उन साधुबाबासे पूछ ले।' यह कहते-कहते वे वास्तवमें महर्षिकी ओर चल पड़े। सखामण्डली भी पीछे-पीछे चल पड़ी।

एक विशाल कदम्बकी छायामें महर्षि शान्त खड़े हैं। अतिशय गम्भीर मुद्रा है। तपका तेज अङ्गोंसे झर-सा रहा है, नेत्रोंमें एक विचित्र ज्योति है; किंतु जैसे ही श्रीकृष्णचन्द्र समीप आये कि मुनिका सब कुछ बदल गया। शरीर काँपने लगा। मुद्रा चञ्चल हो गयी। अङ्गोंकी दीप्ति, नेत्रोंकी वह दिव्य ज्योति विलीन हो गयी—इस प्रकार जैसे श्रीकृष्ण-अङ्गोंकी महामरकतद्युतिमें वह मिल गयी हो। महर्षिकी तो एक अनिर्वचनीय अवस्था हो गयी है और इधर श्रीकृष्णचन्द्र अत्यन्त निकट जाकर उनसे पूछ रहे हैं—'साधुबाबा! तुमने तो मेरा खेल देखा है; तुम्हीं बताओ कि श्रीदाम मुझसे हार गया या नहीं।'

महर्षि विस्फारित नेत्रोंसे श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर देखते रह जाते हैं, कुछ उत्तर नहीं देते। श्रीकृष्ण किञ्चित् प्रतीक्षा करते हैं, पर महर्षि मौन हैं। ऐसा प्रतीत हो रहा है, उनमें अब खड़े रहनेकी सामर्थ्य भी जाती रही है। वे गिरते हुए-से पुलिनरेणुकापर बैठ जाते हैं। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्र अपनी नन्ही-नन्ही भुजाओंको उठाकर उनकी गोदमें चले जाते हैं। गोदमें जाकर पूछते हैं—'बाबा! क्यों, बताओगे नहीं? श्रीदाम हारा या नहीं?' पर इस बार भी श्रीकृष्णचन्द्रको कोई उत्तर नहीं मिला। महर्षिको न बोलते देखकर वे तुरंत उनकी गोदसे नीचे उतर आये और सखाओंसे कहने लगे—'भैयाओ! ये साधुबाबा तो बोलते ही

नहीं। चलो, हम सब पहलेकी भाँति खेलें।' कहते-कहते वे खिलखिलाकर हँस पड़े।

इस समय श्रीकृष्णचन्द्रके अरुण अधरोंपर आयी हुई यह हँसी वास्तवमें बाल्यलीलाविहारीकी शिशुस्वभावसुलभ हँसी नहीं है। यह तो उनकी *अघटघटनापटीयसी योगमायाशक्ति*की हँसी है। अनन्त ऐश्वर्यनिकेतन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका किञ्चित् मायावैभव मुनिराजको प्रत्यक्ष करानेके उद्देश्यसे इस समय योगमाया प्रकट हुई हैं और वे ही अधरोंके अन्तरालसे हँस रही हैं। हँसते-हँसते ही वे महर्षि दुर्वासाको अपनी ओर खींच लेती हैं, देखते-ही-देखते दुर्वासा श्रीकृष्णचन्द्रके उस छोटे-से मुखविवरमें प्रवेश कर जाते हैं।

योगमाया पीछेकी ओर कपाट लगा देती हैं तथा आगेका द्वार उन्मुक्त कर देती हैं। तपोधन दुर्वासा अनुभव करने लगते हैं—'मैं कहाँ हूँ? यह कौन-सा देश है? इतना विशाल लोक, पर सर्वथा जनशून्य! इन अरण्यश्रेणियोंमें भी कोई नहीं। वन-भ्रमण करते-करते श्रान्त हो गया, पर किसी भी प्राणीके दर्शन अबतक नहीं हुए। वह सामने क्या है? अरे, यह तो एक अत्यन्त विशाल अजगर है। ओह! यह तो मुझे अपना ग्रास बना रहा है। हरि-इच्छा! यह लो, अजगरके द्वारा निगले जानेपर भी मेरा शरीर अक्षत है, मैं जीवित हूँ। हाँ! यह तो एक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है। सप्तलोक! सप्तपाताल! सब कुछ यथायोग्य है। × × × ओह! कितने दिनोंसे इन द्वीपोंमें भ्रमण कर रहा हूँ। नहीं, अब तो इस अग्रवर्ती श्वेत-पर्वतपर तप करूँगा। × × × यहाँ मुझे तप करते कितने दिन बीते? शतकोटि वर्ष हो गये। अरे! अब तो नैमित्तिक प्रलयका समय उपस्थित है। सागरकी उत्ताल तरङ्गें समस्त धरातलको प्लावित कर रही हैं। स्थल रहा ही नहीं, सर्वत्र जल-ही-जल है। यह अनन्त अम्बुराशि मुझे कहाँ बहा ले जायगी? इसका अन्त हो, तब तो किनारे लगूँ। अरे! मैं अपने दिव्य ज्ञानसे यह जान रहा हूँ कि तबसे सहस्रयुगपरिमित समय हो चला, पर मैं तो इस जलराशिमें ही बह रहा हूँ। किंतु अब मैं डूब रहा हूँ, मेरी स्मृति विलुप्त हो रही है। × × × मैं समाधिमें अवस्थित हो गया था, अब व्युत्थान हुआ है। × × × सब कुछ जलमय है। नहीं, नहीं, यहाँ भी एक और ब्रह्माण्ड है। यह अण्डच्छिद्र है। प्रवेश करके देखूँ? हानि ही क्या है। × × × छिद्रके अन्तरालमें ऐसी दिव्य सृष्टि! × × × यह स्थान कौन-सा है? ये तो इसी ब्रह्माण्डके शिरोदेशमें अवस्थित लोक हैं। × × × कालमानसे एक ब्रह्माकी आयु पूर्ण हो चुकी, पर मैं तो अनवरत इन लोकोंमें ही घूम रहा हूँ। × × × यह एक पुनः अण्डच्छिद्र आया! नारायण! नारायण!! नारायण!!! मैं इस छिद्रमें प्रवेश कर रहा हूँ। × × × छिद्रको पारकर इस दूसरे छोरसे मैं बाहर निकल आया। अरे! यह अगाध अनन्त अपरिसीम जलराशि और इस जलमें संतरण करती हुई कोटि-कोटि अण्डराशि! × × × जय हो प्रभो! जय हो!! आज मुझे विरजा नदीके दर्शन हुए। × × × ओह! विरजा-तीरकी कैसी अनुपम शोभा है। कहीं दिव्य पद्मराग तो कहीं दिव्य इन्द्रनीलमणि, कहीं दिव्य मरकत और कहीं दिव्य स्यमन्तकमणि, कहीं दिव्य रुचक तो कहीं दिव्य कौस्तुभमणि—इन सबके स्तूप लगे हैं। कृष्ण, श्वेत, हरित एवं रक्तवर्ण विविध दिव्यातिदिव्य रत्नसमूहोंसे परिशोभित, मुक्ता-माणिक्य-स्पर्शमणिखचित, शुद्ध स्फटिकाभ सुविस्तीर्ण परम मनोहर इस सरित्तटके दर्शनसे मैं कृतार्थ हो गया! × × × अच्छा, मैं तो विरजा पारकर शतशृङ्गसमन्वित गिरिराज गोवर्द्धनके परिसरमें आ पहुँचा हूँ। यह है पारिजातवनश्रेणी! यह है कल्पतरुओंकी पङ्क्ति! यह है विचरणशील कामधेनुसमूह! गिरिराज! मैं तुम्हें प्रणाम कर रहा हूँ। × × × वृन्दावन आ गया है। नवपल्लवोंसे परिशोभित, चन्दन-मन्दार-चम्पक आदि पुष्पोंके परागसे सुवासित, सुमधुर भ्रमर-रवसे गुञ्जित यह वृन्दाकानन कितना सुन्दर है! दिव्य-फलसमन्वित आम्र, नारङ्ग, पनस, ताल, नारिकेल, जम्बु, बदरी, खर्जूर, गुवाक, आम्रातक, जम्बीर, कदली, श्रीफल एवं दाडिम वृक्षोंकी पङ्क्तियाँ कितनी सुन्दर हैं! इन विशाल प्रियाल, साल, अश्वत्थ, निम्ब, शाल्मली,

तिन्तिड़ी तरुवरोंकी कैसी सघन शीतल छाया है! मल्लिका, मालती, कुन्द, केतकी, माधवी, यूथिकाका कितना मनोहर सुवास है! इस वृन्दावनको निहारकर मेरे नेत्र शीतल हो गये। × × × यह लो, मेरे सामने कालिन्दी कलकल ध्वनि करती हुई प्रवाहित हो रही है। × × × जय हो! जय हो!! मैं गोलोकधाममें आ गया! × × × इन दिव्यातिदिव्य सच्चिदानन्दमय मणिमन्दिरोंकी, कुञ्जकुटीरोंकी कैसी अतुल छवि है! × × × यह प्रथम द्वार हरिद्राभ, मणिमय, हीरकखचित कपाटोंसे विभूषित है। रत्नसिंहासनस्थित, रत्नभूषणभूषित, रत्नमुकुटविराजित, पीतपरिधानशोभित वीरभानु इस द्वारके रक्षक हैं। × × × यह द्वितीय द्वार है; सुन्दर शृङ्गारसुसज्जित, श्यामवर्ण, किशोरवयस्क चन्द्रभानु गोप द्वारकी रक्षा कर रहे हैं। × × × इस तृतीय द्वारपर मुरलीधर श्यामसुन्दर किशोरमूर्ति सूर्यभानु गोप हैं। × × × अब आया है चतुर्थ द्वार! वसुभानु द्वारी हैं। वसुभानुके पक्वबिम्बफलसदृश अधर ओष्ठका, सहास्यवदनकमलका सौन्दर्य देखते ही बनता है। × × × यह पञ्चम द्वार है। यह देवभानुसे संरक्षित है। अगुरु, चन्दन एवं कस्तूरी, कुङ्कुमके द्रवसे देवभानुके अङ्ग चर्चित हैं; कण्ठमें कदम्ब पुष्पोंकी माला झूल रही है। × × × षष्ठ द्वारपर पुष्पोंका तोरण है, उसपर विविध चित्र अङ्कित हैं। यहाँ शक्रभानुका संरक्षण है। शक्रभानुके कानोंमें रत्नकुण्डल हैं, ग्रीवामें श्रीखण्डपङ्कजकी माला है। × × × सप्तम द्वारपर रत्नभानु गोप विराजित हैं। × × × अष्टम द्वारके दौवारिक सुपार्श्व गोप हैं। सुपार्श्वके अधरोंपर मन्द मुसकान है, ललाटपर श्रीखण्डतिलक सुशोभित है। × × × नवम द्वार सुबल गोपके शासनमें है। × × × दशमपर सुदामका आधिपत्य है। × × × एकादश द्वारका अधिष्ठाता श्रीदाम गोप हैं। वक्षःस्थलपर प्रफुल्लमालतीमाला झूल रही है। ओह! श्रीदामके अङ्ग कितने कमनीय हैं। × × × द्वादश! त्रयोदश! चतुर्दश! पञ्चदश! षोडश! इन प्रत्येकपर कोटि-कोटि गोपाङ्गनाओंका संरक्षण है। × × × हैं! यह क्या है? नेत्र ठहर नहीं रहे हैं— असंख्यकोटिमार्तण्डकी ज्योतिके समान एक ज्योतिर्मण्डल है। × × × ओह! जय हो, जय हो! इस ज्योतिर्बिम्बमें लक्षदलसमन्वित परम दिव्य एक पद्म है। × × × गोलोकविहारिन्! तुम्हारी जय हो! तुम स्वयं इस पद्मपर विराजित हो! नाथ! तुम्हारा यह अप्रतिम विश्वविमोहन सौन्दर्य! वाणीकी सामर्थ्य नहीं कि इसकी छाया भी छू ले। × × × हैं-हैं! सहसा यह विचित्र हँसी कैसी? अरुण अधरोंका स्पन्दन ठीक वैसा ही है। नहीं, हँसी नहीं—ज्योत्स्ना है। × × × किरणें मुझे लपेट रही हैं। यह लो, अनन्तब्रह्माण्डपति गोलोकपतिके मुखमें चला! पीछे द्वार रुद्ध हो गया! आगेके कपाट उन्मुक्त हो रहे हैं। पर मेरे नेत्र निमीलित हो रहे हैं·····।'

इसी बीचमें महर्षि श्रीकृष्णके मुखविवरसे बाहर आ गये। एक क्षण बाद महर्षिने नेत्र खोलकर देखा—गोलोक नहीं, यह तो वही भरतखण्डका व्रजपुर है। कालिन्दीनिकटवर्ती वही सैकतपुलिन है। ठीक वही वालुकामयी क्रीडास्थली है। अभी भी श्रीकृष्ण सखाओंके साथ वैसे ही खेल रहे हैं! यहाँ मैं कुछ क्षण पहले भी आया था। संशय करने लगा था कि परात्पर श्रीकृष्णकी ऐसी चेष्टा क्यों। निश्चय कर चुका था कि ये परात्पर ईश्वर नहीं हैं। पर ठीक उसी समय श्रीकृष्णचन्द्र आये, मुझसे कुछ बोले, मेरी गोदमें उठ आये, फिर उतरकर हँसने लगे, मैं इनके छोटे-से मुखविवरमें प्रवेश कर गया! फिर तो·····!!

मुनिवरने अञ्जलि बाँध ली, सिर झुका लिया। उनकी बुद्धिमें तो श्रीकृष्णका अनन्त ऐश्वर्य प्रकाशित हो रहा है, किंतु मन एवं इन्द्रियाँ एक अभिनव रसमाधुरीसे परिप्लुत हो रही हैं। दृष्टिके सामने श्रीकृष्णचन्द्रका वही क्रीडामय रूप है। वे उसी रूपको देखते हुए गुन-गुन करने लगते हैं—

बालं नवीनशतपत्रविशालनेत्रं
बिम्बाधरं सजलमेघरुचिं मनोज्ञम्।
मन्दस्मितं मधुरसुन्दरमन्दयानं
श्रीनन्दनन्दनमहं मनसा नमामि॥
मञ्जीरनूपुररणन्नवरत्नकाञ्ची-
श्रीहारकेसरिनखप्रतियन्त्रसंधम्।

दृष्ट्यार्तिहारिमधिबिन्दुधिराजमानं
वन्दे कलिन्दतनुजातटबालकेलिम्॥
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखोपरि कुञ्चिताग्राः
केशा नवीनघननीलनिभाः स्फुरन्तः।
राजन्त आनतशिरःकुमुदस्य यस्य
नन्दात्मजाय सबलाय नमो नमस्ते॥

"नवकमल-जैसी शोभा विशाल नेत्रोंकी है। बिम्बफलके सदृश अधर हैं। उनपर मन्द मुसकान छायी हुई है। सजल जलदकी-सी कान्ति अङ्गोंकी है। अत्यन्त सुन्दर बालवेष है। मधुर सुन्दर मन्दगतिसे वे चलते हैं। मैं इन नन्दनन्दनको मन-ही-मन प्रणाम कर रहा हूँ। चरणोंमें मञ्जीर एवं नूपुर सुशोभित हैं। कटिदेश नवरत्न-काञ्ची-विभूषित है। काञ्चीसे रुनझुन-रुनझुन शब्द हो रहा है। गलेमें सुन्दर हार है। हारमें व्याधिनिवारक यन्त्रप्रतीक व्याघ्रनख पिरोये हुए हैं। जननीने दृष्टिदोषनिवारणके उद्देश्यसे एक काला बिन्दु मुखपर लगा दिया है, इससे उनकी शोभा और भी बढ़ गयी है। कलिन्दनन्दिनी श्रीयमुनाके तटपर विविध बालक्रीड़ा करनेवाले इन परम सुन्दर नन्दनन्दनकी मैं वन्दना करता हूँ। पूर्ण शशधर-जैसे सुन्दर मुखपर कुञ्चित केशकलाप सुशोभित है। यह कुन्तलराशि ऐसी प्रतीत होती है, जैसे नवीनघनकी नीलिमा हो। इन श्रीकृष्णचन्द्रके चरणप्रान्तमें जो सिर झुका देते हैं, उनके लिये ये कुमुदकी भाँति शीतल—शंतम बन जाते हैं। मैं बलरामसहित नन्दनन्दनको बार-बार प्रणाम कर रहा हूँ।"

मुनिवरके नेत्रोंसे जल बहने लगा। वे उठ खड़े हुए तथा श्रीकृष्णके ध्यानमें निमग्न होकर 'कृष्ण-कृष्ण' रटते हुए बदरिकाश्रमकी ओर चल पड़े—तपश्चर्याके लिये नहीं, निर्बाध श्रीकृष्णका स्मरण करनेके लिये, श्रीकृष्णनामामृतपान करनेके लिये। अनन्तजन्मार्जित तपका परम फल तो महर्षिको प्राप्त हो चुका है; श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शनका, स्पर्शका परमानन्द वे अनुभव कर चुके हैं; साथ ही अपना सर्वस्व समर्पितकर श्रीकृष्णदास बन चुके हैं; उनके लिये अब करनेको रहा ही क्या है।

यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः।
तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते॥
(श्रीमद्भा० ९। ५। १६)

'जिनके मङ्गलमय नामको सुन लेनेमात्रसे प्राणी निर्मल हो जाते हैं, उन भगवान्‌के चरणकमलके दास बन जानेवालोंके लिये कौन-सा कर्तव्य अवशिष्ट रहता है।'

जो हो, इतना हो गया; किंतु गोपशिशुओंकी दृष्टिमें, परिचारिकाओंके जानमें तो कुछ भी नहीं हुआ। केवल श्रीकृष्णचन्द्र तपोधन दुर्वासाकी गोदमें गये और उनके मौन रहनेपर उतर आये—उन सबने इतना ही जाना। उनके लिये यह क्षुद्र घटना है, उनपर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं। गोपशिशु तो तुमुलनाद करते हुए पहलेकी भाँति ही पुलिनको मुखरित करने लग गये।

अब यशोदा रानी आ पहुँचती हैं। श्रीकृष्णचन्द्रको विविध खेलोंमें—रमणीय दृश्योंमें भुलाये रखकर उन्हें साथ लिये क्रमशः भवनकी ओर लौटती हुई पहले उपवनमें, फिर उपवनको लाँघकर नन्दोद्यानमें, फिर उद्यानसे राजपथपर चली आती हैं। वहाँसे व्रजसुन्दरियोंके भवनोंमें जा-जाकर उन्हें दर्शनसुख देकर श्रीकृष्णचन्द्र अपने भवनमें प्रवेश करते हैं और गोपशिशु अपने-अपने घर चले जाते हैं। उस समय संध्या व्रजपुरपर अपना अञ्चल फैलाने लगती है। जननी पुत्रोंको स्नान कराती हैं। वस्त्र-आभूषणोंसे सुसज्जित कर ब्यारू कराती हैं। पर क्रीडाश्रमसे श्रमित हुए राम-श्याम तो ब्यारूके बीचमें ही सोने लग जाते हैं। जननी किसी प्रकार उन्हें दूध पिलाती है, उनका मुख प्रक्षालन करती हैं, फिर गोदमें उठाकर शय्यापर सुला आती है—

बल-मोहन दोऊ अलसाने।
कछु-कछु खाइ दूध लै अँचयौ, मुख जम्हात जननी जिय जाने॥
'उठहु, लाल!' कहि मुख पखरायौ, तुम कौं लै पौढ़ाऊँ।
तुम सोवौ, मैं तुम्हैं सुवाऊँ, कछु मधुरे सुर गाऊँ॥
तुरत जाइ पौढ़े दोउ भैया, सोवत आई निंद।
सूरदास जसुमति सुख पावति पौढ़े बालगोबिंद॥

कण्व ब्राह्मणपर अद्भुत कृपा

मधुवनके उस शान्त आश्रमकी ओर किसीका भी ध्यान आकर्षित न होता था। सघन वनश्रेणी उसे अन्तर्हृदयमें छिपाये रखती थी। अभेद्य कण्टकजाल क्षीण पगडंडियोंके द्वार रोके सर्वत्र फैले हुए थे, किसीको भी सहसा प्रवेश नहीं करने देते थे। इसीलिये आश्रमके एकमात्र अधिवासी कण्व नामक ब्राह्मणकी तपस्यामें कोई विघ्न उपस्थित न हुआ। पाँच वर्षोंसे ब्राह्मणकी नारायण-अर्चना निर्बाध चल रही थी।

कण्व जब शिशु थे, उस समय भी उनकी शैशव-क्रीडामें नारायण सने हुए थे। जब गृहस्थभार सँभाला, तब वहाँ भी प्रत्येक चेष्टामें नारायण भरे थे; और अब तो अवस्था ढल गयी थी। एकमात्र नारायणका ही अवलम्बन किये हुए ब्राह्मणदेव सर्वथा एकान्तसेवी होकर नारायणमें लीन-से हो रहे थे। समीपका अरण्य जो कुछ भी कन्द-मूल-फल उन्हें देता, उसीको लेकर वे नारायणको अर्पित कर देते, अर्पित प्रसाद पाकर स्वयं भी तृप्त हो जाते। आश्रमसे दस हाथपर ही झर-झर करता हुआ एक जलस्रोत बहता था, वह कभी सूखता न था। अतः जलके लिये भी दूर जानेकी आवश्यकता न थी।

इससे पूर्व कण्व और तो कहीं नहीं, केवल व्रजेश्वर नन्दके घर जाया करते थे। व्रजराज एवं व्रजरानी—दोनोंकी ही कण्वके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। दोनों अपने हृदयकी बात कण्वको बताया करते। कण्वकी गृहस्थीका निर्वाह भी व्रजेश्वरके द्वारा दिये हुए अयाचित दानपर ही अवलम्बित था, किंतु पाँच वर्ष हो गये, भजनानन्दमें जगत्‌को भूले हुए कण्व व्रजेश्वरके घर भी न गये। इसीलिये नन्दनन्दनके प्रकट होनेकी बात भी कण्वको ज्ञात नहीं। आज द्वादशीके दिन इष्टदेवपूजनके निमित्त पुष्पचयन एवं कन्द-मूल आहरण करते हुए वे अचानक कालिन्दी-तटपर—गोकुलके घाटपर आ निकले। वहाँ कुछ ग्वालिनें व्रजपुरकी ओरसे आयी हुई थीं, मधुपुरी जा रही थीं, परस्पर श्रीकृष्णचन्द्रकी मनोहर बाल्यचेष्टाओंकी चर्चा कर रही थीं। ईशप्रेरित उनके कुछ शब्द कण्वके कानोंमें प्रवेश कर गये। वर्षोंसे कण्वने ग्राम्यचर्चा सर्वथा नहीं सुनी थी। ग्रामवासियोंके दर्शनतक उन्होंने इने-गिने बार ही किये थे। पर आज ग्वालिनोंके कण्ठसे निकली हुई वह स्फुट ध्वनि कर्णरन्ध्रोंमें बरबस चली गयी—नहीं-नहीं, प्राणोंके अन्तस्तलमें जाकर गूँजने लगी। कण्व अपनेको संवरण न कर सके। द्रुतगतिसे चलकर गोपसुन्दरियोंके समीप जा पहुँचे और जाकर पूछ ही बैठे—'माताओ! किसके पुत्रकी बात कर रही हो?' उत्तरमें अश्रुपूरित कण्ठसे गोपसुन्दरियोंने—

पुत्र भयौ री नन्दमहर कैं बड़ी बैस बड़ भाग।

—यहाँसे आरम्भ कर आजतक श्रीकृष्णचन्द्रकी विविध सुमधुर लीलाओंको गा-गाकर सुना दिया। सुनते-सुनते ब्राह्मण समाधिस्थ-से हो गये। जब ग्वालिनें चली गयीं, तब कहीं उन्हें बाह्यज्ञान हुआ। पर वे अब और सब कुछ भूल-से गये थे। नन्दप्राङ्गणमें स्थित ग्वालिनी-वर्णित बालककी मूर्ति ही नेत्रोंके सामने नाच रही थी। कंद-मूलकी झोलीको, चयन किये हुए पुष्पसमूहको वहीं एक तमालके नीचे रखकर मन्त्रपरिचालित-से वे व्रजपुरकी ओर चल पड़े।

व्रजपुरकी सीमामें प्रवेश करते ही कण्वकी दृष्टि बदल गयी। वह आम्रपंक्ति, वह कदम्बश्रेणी—कण्वको प्रतीत हो रहा है, यह तो दिव्य कल्पतरुका वन है, उस पर्वतीय निर्झरसे तो अमृत झर रहा है, ये कूप-तड़ाग तो परम दिव्य सुधासे पूर्ण हैं; यह भूमि नहीं, यह तो चिन्तामणिका एक विशाल आस्तरण है। सामने गोपसुन्दरियाँ हैं—नहीं-नहीं, यह तो अगणित महालक्ष्मियोंका अवतरण हुआ है; यह देखो—इनकी वाणी संगीतमयी है, इनका गमन नृत्यमय है; आकाश चिन्मय, आकाशका सूर्य चिदानन्दमय, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध—ओह! व्रजपुरका तो सभी कुछ सच्चिदानन्दमय है! इस प्रकार कण्व एक अनिर्वचनीय अनुभूति करते हुए, विस्फारित नेत्रोंसे गगनचुम्बी मणिसद्मोंकी ओर निहारते हुए धीरे-धीरे चलकर राजसभाके सम्मुख खड़े हो गये। प्रहरीने कण्वको देखते ही पहचान लिया। वह चरणोंमें गिरकर

बोला—'देव! व्रजेश्वर इस समय अन्तःपुरमें हैं, आप वहीं पधारें।' कण्व अन्तःपुरमें प्रवेश कर गये।

सहसा अपने चिरपरिचित प्रिय ब्राह्मणको आया देखकर नन्ददम्पतिके आनन्दकी सीमा नहीं। दोनों उठ खड़े हुए, दौड़कर आँगनमें चले आये तथा कण्वके चरणोंमें लोट गये। फिर अञ्जलि बाँधे हुए आगे-आगे चलकर उन्हें भीतर ले गये। अतिशय उमंगसे व्रजेशने ब्राह्मणका चरणप्रक्षालन किया, रत्नसिंहासनपर उन्हें बैठाया, पश्चात् अर्घ्य एवं मधुपर्क आदि समर्पित किये। इधर व्रजरानी दौड़ी गयीं, समीपमें ही खेलते हुए श्रीकृष्णचन्द्रको खेल छुड़ाकर ले आयीं; अञ्चलसे अपने नीलमणिका मुख पोंछकर, मुखपर बिखरी हुई अलकावलीको शीघ्रतासे ठीककर ब्राह्मणके चरणोंमें नीलमणिको डाल दिया। नीलमणि भोली चितवनसे देख रहे हैं कि यह क्या हो रहा है तथा ब्राह्मणको ऐसा लग रहा है कि मैं मानो स्वप्न देख रहा हूँ, स्वप्नमें ही मेरे यावज्जीवन ध्यानकी मूर्ति आज मूर्त होकर मुझे प्रत्यक्ष इस रूपमें दीख रही है।

व्रजेश्वरने कण्वकी कुशल पूछी। स्वप्नसे जागे हुए-से कण्वने अपनी कुशल बताकर यह कहा—'नन्दराय! आज अचानक सुना कि तुम्हें पुत्र हुआ है; सुनते ही तुम्हारे पुत्रको देखने आया हूँ; आशीर्वाद देने आया हूँ।' ब्राह्मणकी यह बात सुनकर व्रजराजके, व्रजरानीके नेत्रोंमें आनन्दाश्रु छल-छल करने लगे। पर श्रीकृष्ण उसी समय खिलखिलाकर हँस पड़े। ठीक उसी क्षण कण्वको मानो यह प्रतीत हुआ, मेरे हृदयमें अवस्थित मेरी इष्टमूर्ति बोल रही है—'कण्व! देखते हो! अरे! देखो, श्रीहरिके अधरोंपर आयी हुई इस हँसीको प्रत्यक्ष देख लो, इसमें लीन हो जाओ; ध्यान करते-करते अपनेको विलीन कर देनेका सर्वोत्तम स्थल यही तो है; ओह! इन अरुण अधरोष्ठकी अरुणिम कान्तिसे कुन्दपङ्क्तिसदृश दन्तावलिपर भी कैसी लालिमा-सी छायी हुई है। बाहर हँसते हुए श्रीहरिको देख रहे हो तो? वे ही अन्तर्हृदयमें भी विराजित हैं! इन्हींमें तन्मय हो जाओ। सुनो, मनको प्रेमरसमें डुबा दो, डुबा-डुबाकर मसृण कर लो; फिर इस मसृण मनको इन हास्यकिरणोंके सामने कर दो। बस, किरणें इसे आत्मसात् कर लेंगी। पर यह तभी सम्भव है, जब इनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी देखनेकी वासना रहे ही नहीं'—

ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठ-
भासारुणायिततनुद्विजकुन्दपङ्क्ति ।
ध्यायेत्स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णो-
र्भक्त्याऽऽर्द्रयार्पितमना न पृथग्दिदृक्षेत्॥
(श्रीमद्भा० ३। २८। ३३)

कण्वका अङ्ग-प्रत्यङ्ग नाच उठा। रत्नसिंहासनसे वे हठात् उठ खड़े हुए। व्रजेश एवं व्रजरानी ब्राह्मणकी मुखमुद्रा देखकर किञ्चित् आश्चर्यमें पड़ गये हैं; किंतु श्रीकृष्णचन्द्रके मुखारविन्दपर पुनः एक मुसकान छा जाती है तथा तत्क्षण ही ब्राह्मणका भाव बदल जाता है। वे पूर्ववत् आसनपर बैठ जाते हैं। यह नन्दपुत्र अप्रतिम सुन्दर है, यह वृत्ति तो अभी भी स्पन्दित हो रही है; पर इसके अतिरिक्त कण्वकी अन्य अनुभूतियोंपर मानो किसीने यवनिका गिरा दी।

'तो व्रजेश! अब चलता हूँ, मध्याह्न उपस्थित है; ओह! आज बड़ा ही अतिकाल हो गया' पुनः आसनसे उठते-उठते कण्वने कहा। किंतु व्रजरानीने चरण पकड़ लिये और बोलीं—'देव! आज द्वादशीका पारण यहीं करनेकी कृपा करनी पड़ेगी। इतने दिनोंके पश्चात् तो आप पधारे हैं और इतना विलम्ब हो गया है; आज तो मैं पारण किये बिना कदापि जाने न दूँगी।' यह कहकर व्रजरानीने कण्वके चरणोंमें अपना सिर रख दिया। ब्राह्मणने स्वयं आहरण किये हुए वन्य कंद-मूलोंसे उदरपूर्ति करनेका पाँच वर्षोंसे व्रत ले रखा था; पर विशुद्ध श्रद्धाकी ही जय हुई, उन्होंने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

यशोदारानीने तुरंत अतिशय शीघ्रतासे पहले स्वयं स्नान किया, फिर नन्दोद्यानसे संलग्न एक गोशालामें गयीं। गोशालाके एक निर्वात अंशमें गोबरका चौका लगाया, चूल्हेका निर्माण किया, गोबरसे लीपकर चूल्हेका भी संस्कार किया; फिर सुवर्णकलशीमें यमुनाजल भर ले आयीं, नवीन पवित्र सुन्दर मृत्पात्रमें

पद्मगन्धिनी गायका दूध दुहकर रख दिया; स्वर्णथालमें शालितण्डुल, रत्नजटित हेम-कटोरेमें शर्करा, मणिनिर्मित कटोरीमें कर्पूर भरकर ले आयीं; घृत, एला, लवङ्ग, केसर, शुष्क सुगन्धित काष्ठ, करछी आदि समस्त रन्धनसामग्री वहाँ एकत्र कर दी। आधी घड़ी समाप्त होते-न-होते कण्वके सामने हाथ जोड़कर खड़ी हो गयीं और भोजन बनानेके लिये प्रार्थना करने लगीं।

कण्व व्रजरानीके पीछे-पीछे चलकर रन्धनशालामें चले आये। आ तो गये, पर मनकी विचित्र दशा है। जितनी देर व्रजेश्वरी रन्धनकी व्यवस्था कर रही थीं, उतनी देर वे निर्निमेष नयनोंसे श्रीकृष्णचन्द्रका सौन्दर्य, उनकी मनोहर बाल्यभङ्गिमा निहारते रहे हैं। उनकी आँखोंमें नन्दनन्दनका अतुल सौन्दर्य सब ओरसे भर गया है। कण्वको रन्धनशाला नन्दनन्दनमयी प्रतीत हो रही है। उन्हें चूल्हा नहीं दीखता, चूल्हेके स्थानमें अधरोंपर मन्द मुसकान लिये नन्दनन्दन खड़े दीखते हैं। स्वर्णकलशी, सुवर्णथाल, दुग्धपात्रमें नन्दनन्दन भरे प्रतीत हो रहे हैं; गोशालाकी भित्तिमें अगणित नन्दनन्दन नाचते दीख रहे हैं, द्वारको रुद्ध किये नन्दनन्दन खड़े हैं, गवाक्षरन्ध्र शतसहस्र नन्दनन्दनसे परिपूरित है। कण्वके हृदयमें एक रसमय झञ्झावात चल पड़ता है। वे सोचने लगते हैं—'मेरी ऐसी दशा क्यों हो गयी? मेरी आँखोंमें क्या हो गया?'

जबतक श्रीकृष्णजननी रन्धनशालामें उपस्थित थीं, तबतक रह-रहकर वे तो दीख जाती थीं। किंतु मर्यादाकी रक्षाके लिये—ऐसे पवित्र ब्राह्मणके भोजनपर मेरी छाया न पड़े, इस भावनासे जब वे कण्वको प्रणाम कर चली गयीं, तब केवल नन्दनन्दनकी छबि ही बच रही। यहाँतक कि जब कण्व अपनी तलहथी उठाकर आँखोंके सामने करते तो तलहथीमें भी नन्दनन्दनकी छबि अङ्कित दीखती; अपने उत्तरीय एवं कटिवस्त्रमें भी नन्दनन्दनका सजीव प्रतिचित्र झलमल-झलमल कर रहा था। इसीलिये कुछ देरतक तो कण्व कर्तव्यविमूढ़-से हुए शान्त जडवत् बैठे रहे। पर उसी समय मानो हृदयकी इष्टमूर्ति एक बार पुनः बोल उठी—'कण्व! भोग अर्पण नहीं करोगे? अतिकाल हो रहा है, मुझे क्षुधा लग रही है।' इस प्रकार किसी अचिन्त्य प्रेरणासे जगाये हुए-से कण्वका यह आवेश किंचित् शिथिल हुआ और वे रन्धनमें लगे। अग्नि प्रज्वलित कर, उन्होंने उक्त द्रव्योंसे सुन्दर स्वादु खीर प्रस्तुत करके खीरको स्वर्णथालमें ढाल दिया। तालवृन्तकी बयार देकर वे उसे शीतल करने लगे। भोजनके योग्य शीतल होते ही उसपर तुलसीमञ्जरी रख दी तथा विधिपूर्वक इष्टदेवको भोग समर्पितकर, सामने वस्त्रका आवरण डालकर अपने नेत्र मूँद लिये—

घृत मिष्टान्न खीर मिश्रित करि परुसि कृष्ण-हित ध्यान लगायो।

(सूरदास)

किंतु मानसिक भावना समाप्त होनेपर जब कण्वने आँखें खोलीं और देखा तो वे अवाक् रह गये—

नैन उघारि बिप्र जो देखै, खात कन्हैया देखन पायौ॥

(सूरदास)

कण्वने देखा—अपने इष्टदेवके लिये मैंने जिस आसनकी कल्पना की थी, उसपर नन्दनन्दन बैठे हैं। अपने वङ्किम नेत्रोंको इधर-उधर संचालित करते हुए हाथसे खीर उठा-उठाकर खा रहे हैं। इस झाँकीके सामने आनेपर कण्वके शरीरमें, शरीरके अणु-अणुमें एक बार तो अभिनव तडित्-लहरी-सी दौड़ गयी। उनके नेत्र छल-छल करने लगे। पर दूसरे ही क्षण श्रीकृष्णचन्द्र भीतिविजडित नयनोंसे ब्राह्मणकी ओर देखते हुए, खीर आरोगना छोड़कर, आसनपर उठ खड़े हुए। बस, उनका उठना था कि कण्वका भाव बदल गया—'आह! इस चञ्चल नन्दपुत्रने तो मेरे इष्टदेवका भोग भ्रष्ट कर दिया।' ब्राह्मणके हृदयमें एक व्यथा-सी हुई, नेत्रोंमें भी किंचित् रोषका आभास-सा छा गया। गम्भीर स्वरमें उन्होंने पुकारा—'व्रजेश्वरि! इधर आओ।'

इधर, ब्राह्मणकी व्यवस्था करके व्रजेश्वरी श्रीकृष्णचन्द्रके पास चली गयी थीं। श्रीकृष्णचन्द्र तो खेलमें उन्मत्त हो रहे थे। अतः व्रजरानी—जैसा दान व्रजेशने पुत्रके जन्मोत्सवपर प्रति ब्राह्मणको दिया था, उससे अधिक कण्वको देनेका आदेश देने, उन-उन वस्तुओंको स्वयं अपने हाथों सहेजने चली गयीं।

यह कार्य करके वे पुनः श्रीकृष्णके समीप आयीं। पर श्रीकृष्णचन्द्र वहाँ न मिले। अतिशय शीघ्रतासे पूछकर गोशालाकी ओर अग्रसर हुईं; क्योंकि उसी ओर अभी-अभी कुछ क्षण पहले दासियोंने श्रीकृष्णचन्द्रको जाते देखा था। इधर वे द्वारपर आयीं और उधर कण्वने पुकारा। कण्वके रूक्ष स्वरको सुनते ही नन्दरानीका हृदय धक्-धक् करने लगा। दौड़कर भीतर प्रवेश कर गयीं। उनके आते ही कण्व ग्लानिपूर्ण स्वरमें बोल उठे—'यशोदारानी! तुम्हारे पुत्रने क्या किया है, देख लो।'

'नीलमणि! नीलमणि! मेरे लाल! तुमने यह क्या अनर्थ कर डाला'—घटनासे अत्यन्त व्यथित व्रजरानी इससे अधिक बोल न सकीं। पर श्रीकृष्णचन्द्र ऐसी सरल दृष्टिसे जननीकी ओर, ब्राह्मणकी ओर देख रहे हैं जैसे कुछ हुआ ही न हो। उस भोली चितवनसे कण्वका रोषाभास तो उड़ ही गया, बल्कि वे तो भय करने लगे कि कहीं इस सरलमति सुकुमार बालकको इस छोटी-सी बातके लिये व्रजरानी कुछ दण्ड न दे दें। इसलिये ही वे नीरवता भङ्ग करते हुए बोले—'नन्दगेहिनी! बालकका कोई दोष नहीं, अन्नके कण-कणपर ईशविधानकी छाप रहती है; तुम्हारा पुत्र तो निमित्तमात्र है। नहीं-नहीं, इसने तो मेरे व्रतकी रक्षा की है; आसक्तिवश मैं नीचे गिर रहा था, इसने मुझे गिरनेसे बचा लिया; ग्राम्यजीवनका परित्याग कर चुका था, कंदमूलाहारी होनेका व्रती था। पर तुम्हारे विशुद्ध आग्रहवश पुनः पीछे लौट रहा था, प्रभुने इस बालकके द्वारा मेरी रक्षा कर दी; मैं आशीर्वाद देता हूँ, यह बालक चिरंजीवी हो, तुम्हारी सुखसमृद्धि निरन्तर बढ़े''''''पर, अब मैं चलता हूँ, बहुत ही अतिकाल हो गया है।' कण्व चलनेके लिये प्रस्तुत हो गये।

व्रजेश्वरी रो पड़ीं। कण्वके समक्ष घुटने टेककर, हाथ जोड़कर रोती हुई बोलीं—'देव! इस बालकने जो अपराध किया है, उसका यत्किंचित् मार्जन तभी सम्भव है, जब आप पुनः खीर बनाकर मेरे घर पारण कर लें। अन्यथा मुझ अभागिनीके भाग्यमें न जाने क्या लिखा है''''''।' व्रजरानीके इस निष्कपट क्रन्दनके आगे परम भागवत कण्व पुनः झुक गये। पुनः रन्धनव्यवस्था कर देनेकी अनुमति कण्वसे नन्दरानीने ले ही ली।

व्रजेश्वरीने पुनः स्नान किया। पार्श्ववर्ती एक अन्य गोशालाका सम्मार्जन कर पुनः नवीन सुवर्णकलशीमें वे जल भर लायीं। फिरसे शालितण्डुल, स्वर्णथाल, दुग्ध, शर्करा, केसर, घृत आदि समस्त सामग्री एकत्रितकर ब्राह्मणको वहाँ ले गयीं। कण्व भी खीर प्रस्तुत करनेकी योजनामें लगे। पर उन्हें नन्दनन्दनका खीरसे सना मुखारविन्द भूल नहीं रहा था। कितनी बार कण्वने चेष्टा की कि इस ओरसे वृत्ति समेटकर इष्टचिन्तनमें तन्मय कर दें, पर मन इस झाँकीसे बँधा प्रतीत होता था। इसीलिये रन्धनकार्यमें भी व्यतिक्रम हो रहा था। तण्डुल-निक्षेपसे पूर्व उन्होंने दुग्धमें शर्करा डाल दी, फिर उसमें घृतपात्र उड़ेल दिया। अब स्मरण आया कि 'अरे! तण्डुल छोड़ना तो भूल ही गया, खीर बनेगी कैसे। यह सोचकर आवश्यकतासे अधिक तण्डुल डाल दिये। फिर भी जैसे-तैसे खीर बन ही गयी एवं जगन्नियन्ताकी इच्छासे परम सुन्दर—स्वादु ही बनी। खीरकी सुवाससे गोशाला सुवासित होने लगी। कण्वने पहलेकी ही भाँति विधिपूर्वक भोग धराया और भोग धरकर वे इष्टचिन्तनमें निमग्न हो गये।

इधर नीलमणिसे अतिशय शङ्कित होकर जननी यशोदा उन्हें गोशालासे बाहर ले आयी थीं, तोरणद्वारके समीप अलिन्दपर आम्रकी सुशीतल छायामें नीलमणिको गोदमें लिये बैठी थीं। निश्चय कर चुकी थीं कि जबतक ब्राह्मणका पारण न हो लेगा, तबतक इसे छोड़कर मैं कहीं जाऊँगी ही नहीं। श्रीकृष्णचन्द्र भी जननीकी गोदमें शान्त होकर बैठे थे। सामने कुछ मयूर नृत्य कर रहे थे, उन्हींकी ओर वे देख रहे थे। एक-दो बार मयूरोंको पकड़नेके उद्देश्यसे उठ खड़े हुए, पर जननीने जाने न दिया। किंतु कुछ ही देर बाद शीतल वायुके स्पर्शसे वे अलसाङ्ग होने लगे। देखते-ही-देखते जननीकी गोदमें निद्रित हो गये।

नीलमणिको निद्रित देखकर जननी निश्चिन्त हो गयीं। मैयाने भी रात एकादशीका जागरण किया था; तथा अलिन्दपर झुर-झुर करता हुआ सुखद शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन प्रवाहित हो रहा था। अतः जननीके नेत्र भी निमीलित होने लगे। जिस क्षण कण्व गोशालामें भोग समर्पितकर इष्टचिन्तनमें निमग्न हुए, ठीक उसी क्षण जननी श्रीकृष्णचन्द्रको वक्षःस्थलपर धारण किये तन्द्रामें—नहीं, नहीं, हृदेशमें नित्य विराजित अपने नीलमणिमें—लीन हो गयीं।

विशेष नहीं, कुछ ही क्षणोंका अन्तर रहा। पर पहले जागे श्रीकृष्णचन्द्र। तथा जबतक जननीकी तन्द्रा टूटी, तबतक श्रीकृष्णचन्द्र मैयाकी दृष्टिसे उस पार गोशालामें—कण्वकी रन्धनशालामें पुनः प्रविष्ट हो चुके थे। अस्त-व्यस्त हुई जननी दौड़ी अवश्य, पर अब तो विलम्ब हो चुका था।

कण्वने अष्टोत्तरशत जप-संख्या पूर्ण होनेपर, इष्टदेवको मानसिक आचमनीय अर्पण करके आँखें खोलीं। खोलते ही पूर्वानुभूत दृश्य ही सामने दीख पड़ा, अवश्य ही इस बार शतगुणित माधुर्य लिये। ओह! अरुणाभ नयनाम्बुज हैं, पद्मरागनिबद्ध-व्याघ्रनखभूषित ग्रीवा है, मणिकिङ्किणीविभूषित कटिदेश है, नूपुर-शोभित चरणारविन्द हैं, प्रफुल्लनीलोत्पलविनिन्दित अङ्गकान्तिसे रन्धनशालाको उद्भासित करते हुए नन्दनन्दन पहलेकी भाँति ही आसनपर विराजित होकर खीर खा रहे हैं। कण्व मौन रहकर इस शोभाराशिकी ओर देखते ही रह गये।

यशोदारानीने भी देखा। पर वे तो किंकर्तव्यविमूढ़ हो गयीं। एक बार ब्राह्मण-कोपानलसे रक्षा हो गयी, बार-बार थोड़े ही होगी—जननीके नेत्रोंके सामने अन्धकार-सा छा गया। इतनेमें व्रजेश्वर वहाँ आ पहुँचे। पुत्रके प्रथम अपराधकी बात वे नन्दरानीसे सुन चुके थे। इसीलिये भर्त्सना करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर बढ़े। पर आगे बढ़कर कण्वने रोक दिया, साथ ही अत्यन्त मृदुल स्वरमें वे कहने लगे—'व्रजेश! इस बालकको कुछ भी कहनेसे मुझे मार्मिक पीड़ा होगी। सुनो! विश्वनियन्ताकी रुचि पूर्ण होने दो; वे नहीं चाहते कि तुम्हारे घर मेरा पारण हो। अब मुझे जाने दो, क्योंकि दिनका चतुर्थ प्रहर आरम्भ हो गया है; दिवाकर अस्ताचलगामी हों, इससे पूर्व आश्रममें मुझे पहुँच जाना चाहिये, अन्यथा आज अरण्यमें पथ पा लेना असम्भव हो जायगा। तुम जानते हो, मैं कभी असत्यभाषण नहीं करता; मैं किंचित् भी रुष्ट नहीं हूँ। मेरे कारण तुम्हारे पुत्रका कोई भी अमङ्गल न होगा, तुम विश्वास करो।'

कहाँ तो मेरे नीलमणिका इतना गुरु अपराध और कहाँ ब्राह्मणदेवकी इतनी उदार वृत्ति—व्रजमहिषीके हृदयमें एक साथ ही हर्ष एवं दुःखकी दो धाराएँ फूट निकलीं, वे सिसक-सिसककर रोने लगीं। उन्हें सिसकते देखकर कण्वने फिर कहा—'नन्दगेहिनी! मैं अन्तर्हृदयसे आशीर्वाद देता हूँ, तुम्हारे पुत्रका मङ्गल-ही-मङ्गल होगा और यदि तुम्हारे मनमें कहीं यह ग्लानि हो रही है कि ब्राह्मण बिना पारण किये जा रहे हैं, तो लाओ, दहीके किंचित् कण मेरे हाथपर रख दो; आचमन करके, प्रभुको निवेदन कर उसीसे मैं व्रतका पारण किये लेता हूँ।'

ब्राह्मणकी बात सुनकर नन्दरानीके मनमें साहस आ गया। वे बोलीं—'देव! किस मुँहसे निवेदन करूँ, पर आप मेरे स्वभावसे परिचित हैं। मैं जीवनभर इस दुःखको भूल न सकूँगी कि आप बिना भोजन किये मेरे घरसे चले गये।' यह कहते-कहते व्रजरानीके नेत्रोंसे अनर्गल अश्रुप्रवाह बह चलता है। इसी समय कण्वकी दृष्टि मुखमें खीर लपेटे नन्दनन्दनकी ओर चली गयी। उन्हें प्रतीत हुआ—बालक जननीको रोते देखकर भयभीत हो रहा है। बस, कण्व तो व्याकुल हो उठे। आकुलकण्ठसे बोले—'नन्दरानी! शान्त होओ; देखो, तुम्हें रोते देखकर तुम्हारा पुत्र भयभीत हो रहा है। बोलो, क्या चाहती हो? संकोचरहित होकर बताओ, मैं तुम्हें दुखी करके यहाँसे जाना नहीं चाहता।'

व्रजरानीको आशा हो गयी कि अब ब्राह्मण मेरी प्रार्थना स्वीकार कर लेंगे। वे बोलीं—'देव! बस, एक बार आप और रन्धनका परिश्रम स्वीकार करें। मैं तुरंत सभी वस्तुएँ लाती हूँ, दूसरे स्थानमें सारी व्यवस्था किये देती हूँ तथा फिर मैं इस चञ्चल बालकको लेकर अन्य व्रजगोपके घर चली जाऊँगी। इतना ही नहीं, गोशालामें

जितने द्वार हैं, सबपर एक-एक गोपको बैठा देती हूँ। एकपर स्वयं व्रजेश्वर रहेंगे। जबतक आपका पारण नहीं हो जायगा तबतक प्रत्येक द्वारपर प्रहरी रहेगा। देखती हूँ, यह कैसे आता है।' कण्वने एक बार नन्दनन्दनकी ओर देखा तथा फिर व्रजरानीको स्वीकृति दे दी।

तीसरी गोशालामें पुनः ज्यों-के-त्यों वे सारे उपकरण एकत्र हुए। साथ ही मुख्य द्वारपर स्वयं व्रजेश द्वारी बने। अन्य द्वारोंपर तथा प्रत्येक गवाक्षके समीप एक-एक गोप सजग होकर बैठे कि कहींसे भी श्रीकृष्णचन्द्र प्रवेश न कर सकें। यह प्रबन्ध करके व्रजरानी श्रीकृष्णचन्द्रको लेकर उपनन्दके घर चली गयीं। उपनन्दके घरके द्वार भी बंद कर लिये गये। कण्वने भी पायसका निर्माण किया। अर्पणकी विधि भी सम्पन्न हुई। पर ज्यों ही कण्वने भोजनकी भावना करना आरम्भ किया कि बस, श्रीकृष्णचन्द्र जननीसे हाथ छुड़ाकर भाग खड़े हुए। जननी सारी शक्ति बटोरकर पीछे दौड़ी पर न जाने कैसे उपनन्द-गृहका रुद्ध द्वार खुल गया और श्रीकृष्णचन्द्र बाहर निकल आये। जननीने कातर होकर पुकारा—'नारायण! नारायण!! रक्षा करो!!! प्रभो! प्रभो!! व्रजेश्वर या कोई भी गोप मेरे नीलमणिको गोशालाके द्वारपर ही रोक ले!!!' यह पुकार लगाती हुई जब वे गोशालाके द्वारपर पहुँचीं, तब देखा—व्रजेश्वरने नीलमणिको पकड़ लिया है। फिर तो व्रजरानीके आनन्दकी सीमा नहीं रही। समीप जाकर उन्होंने श्रीकृष्णचन्द्रके दोनों हाथ पकड़ लिये और किंचित् रोषमें भरकर बोलीं—'नीलमणि! अरे, तू इतना दुष्ट कैसे हो गया; प्रातःकालसे एक ब्राह्मणको कष्ट दे रहा है—

बहु अपने ठाकुरहि जिंवावै, तू ऐसैं उठि धावै।

(सूरदास)

किंतु नन्दनन्दन भी इस बार—भयभीत होना तो दूर—रोषमें भरकर अविलम्ब बोल उठे—

जननी! दोष देति कत मोकौं, बहु बिधान करि ध्यावै।
नैन मूँदि कर जोरि नाम लै बारहिं बार बुलावै॥

(सूरदास)

व्रजरानी समझ न सकीं कि नीलमणि क्या कह रहा है। उनकी वृत्ति इस समय केवलमात्र इतना ही ग्रहण कर रही है कि व्रजेश्वरने नीलमणिको पकड़ लिया, अन्यथा यह रन्धनशालामें प्रवेश कर गया होता। व्रजरानी यह नहीं जानतीं कि व्रजेशके द्वारा रुद्ध हो जानेपर भी उनका नीलमणि तो रन्धनशालामें कभीका पहुँच चुका है, कण्वका भोग स्वीकार कर अपने योगीन्द्रमुनीन्द्रदुर्लभ दर्शनसे उन्हें कृतार्थ कर रहा है। प्रेमरसभावितमति यशोदारानी यह जान भी नहीं सकतीं; क्योंकि उन्हें पता नहीं कि जो अजन्मा है, पुरुषोत्तम है, जो प्रत्येक कल्पमें स्वयं अपने-आपमें अपने-आपका ही सृजन करता है, पालन करता है और फिर संहार कर लेता है, जो मायालेशशून्य-विशुद्ध है, केवल ज्ञानस्वरूप है, अन्तरात्माके रूपमें एकरस अवस्थित है, जो त्रिकाल सत्य है, पूर्ण है, अनादि है, अनन्त है, निर्गुण है, नित्य है, अद्वय है—वह मेरा नीलमणि ही तो है। व्रजेन्द्रगेहिनी नहीं जानतीं कि मेरा नीलमणि ही विराट् पुरुष है, काल है, स्वभाव है, मन है, इन्द्रियाँ है, कार्य है, कारण है, पञ्चभूत है, अहंकार है, त्रिगुण है, ब्रह्माण्डशरीर है, ब्रह्माण्डशरीराभिमानी है, अनन्त स्थावर-जङ्गम जीव है, ब्रह्मा है, शंकर है, विष्णु है, दक्ष है, नारद है। व्रजरानी कल्पना ही नहीं कर सकतीं कि मेरा नन्हा-सा नीलमणि स्वर्लोकपाल है, खगलोकपाल है, नृलोकपाल है, अतल-वितल-सुतलपाल है, गन्धर्व-विद्याधर-चारण-अधिनायक है, यक्ष-राक्षस-सर्प-नागपति है। यशोदारानीके मनमें कभी यह उदय नहीं होता कि महर्षि, देवर्षि, पितृपति, दैत्येन्द्र, दानवेन्द्र, सिद्धेश्वर तथा प्रेत, पिशाच, भूत, कूष्माण्ड, जल-जन्तु, मृग, विहंगम—सबके नायकके रूपमें मेरा नीलमणि ही है। व्रजेन्द्रमहिषी यह धारणा ही नहीं कर सकतीं कि जगत्की जितनी वस्तुएँ ऐश्वर्य तेज-इन्द्रियबल-मनोबल-शरीरबलसे युक्त हैं, क्षमासे सम्पन्न हैं, सौन्दर्य-लज्जा-विभूतिसे समन्वित हैं, सुन्दर-असुन्दर अद्भुत वर्णवाली हैं—वे सब-की-सब मेरे नीलमणिके ही रूप हैं।* उन्हें यह भान ही

* स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः। आत्माऽऽत्मन्यात्मनाऽऽत्मानं संयच्छति च पाति च॥

नहीं होता कि मेरी गोदमें रहते हुए ही ठीक उसी क्षण मेरा यह नीलमणि इन अनन्त रूपोंमें भी अवस्थित है, क्रीड़ा कर रहा है। उनके वात्सल्यरस-सुधासागरके अतल तलमें डूबे हुए अपरिसीम ऐश्वर्यके रजःकण कभी ऊपर आते ही नहीं। आते होते तो भले वे जान पातीं कि व्रजेन्द्रके द्वारा यह निरोध व्यर्थ है, यहाँ निरुद्ध रहकर भी नीलमणि तो भीतर प्रकट हैं। वे तो सदा इस भावनासे ही भरी रहती हैं कि मेरा नीलमणि मेरा गर्भजात शिशु है, अबोध है। इसीलिये आज वे फूली नहीं समा रही हैं; क्योंकि उनकी दृष्टिमें अभी-अभी व्रजेन्द्रने चञ्चल नीलमणिको रोक लिया और एक महान् अनर्थ होनेसे रक्षा हो गयी। अस्तु,

इधर इस बार जब कण्वके नेत्र खुले, तब दृश्य तो वही था—नन्दनन्दन भोग आरोग रहे हैं। पर इस बार कण्वके नेत्र, मन, बुद्धिपर लगा हुआ अनादि आवरण सर्वथा छिन्न-भिन्न हो चुका था। वस्तुतत्त्वके सम्बन्धमें अब उन्हें संशय नहीं रहा। कण्व वहीं श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंमें लोट गये। उनके नेत्रोंसे अश्रुका निर्झर झरने लगा, इस निर्झरवारिसे श्रीकृष्णचन्द्रके चरण युगल प्रक्षालित होने लगे।

मानो किसी परम दिव्य वीणाके तार झंकृत हो उठे हों, इतने मधुर कण्ठसे श्रीकृष्णचन्द्र बोले—'कण्व! तुम मुझे देखनेके लिये अनेक जन्मोंसे लालायित हो। इसीलिये इस बार जब मैं यहाँ प्रकट हुआ, तब तुम्हारा भी इसी ब्रह्माण्डमें—इस मधुपुरीमें जन्म हो गया। मेरी माता, मेरे पिता तुम्हारे दृष्टिपथमें आ गये, इसीलिये तुम मेरा यह बाल्यरूप, बाल्यलीला देख सके।' यह कहकर श्रीकृष्णचन्द्रकी वह कमनीय झाँकी अन्तर्हित हो गयी। उसके बाद भी कण्व न जाने कितनी देर स्वेद, कम्प, स्तम्भ, पुलक आदि दर्शनजन्य सात्त्विक भावोंके प्रवाहमें बहते रहे। भावावेश जब किंचित् शिथिल हुआ, तब कण्वने श्रीकृष्ण अधरामृतसिक्त उस खीर-प्रसादको पहले अपने सिरसे लगाया, फिर कुछ अंश मुखमें रखा। इसके पश्चात् सारे अङ्गोंमें उस खीरको चुपड़ लिया। फिर जो अवशिष्ट रहा, उसे अपने उत्तरीय वस्त्रमें बाँध लिया तथा द्वार खोलकर बाहर चले आये।

व्रजेशने देखा—ब्राह्मणके अणु-अणुसे आनन्द झर-सा रहा है। दिव्योन्मादके लक्षण भी उनमें प्रत्यक्ष परिलक्षित हो रहे हैं। हाथ जोड़कर व्रजेन्द्र पूछते हैं, 'देव! पारण हो गया?' कण्व गद्गद कण्ठसे कहते हैं—'हाँ व्रजेश! हो गया, मैं अनन्त कालके लिये परितृप्त हो गया।' यह कहकर फिर वे कुछ बड़-बड़ करने लगते हैं। नन्द-दम्पति कुछ नहीं समझ पाते कि ब्राह्मण क्या कह रहे हैं। हाँ, इतना तो वे जान गये हैं कि कण्वको प्रसाद अर्पण करते समय प्रेमावेश हो गया है; उन्होंने इसीलिये अर्पित खीर अङ्गोंमें चुपड़ ली है। जो हो, ब्राह्मणकी उन्मत्तता उत्तरोत्तर बढ़ने लगती है। वे वहीं नन्दप्राङ्गणमें बारंबार लोट-लोटकर अस्फुट स्वरमें आवृत्ति करने लगते हैं—

सफल जन्म, प्रभु आजु भयौ।
धनि गोकुल, धनि नन्द-जसोदा, जाकैं हरि अवतार लयौ॥
प्रगट भयौ अब पुन्य-सुकृत-फल, दीनबंधु मोहिं दरस दयौ।
बारंबार नंद कें आँगन, लोटत द्विज आनंदमयौ॥
मैं अपराध कियौ बिनु जानें, को जानें किहिं भेष जयौ।
सूरदास प्रभु भक्त-हेत-बस जसुमति-गृह आनंद लयौ॥

विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक्सम्यग्वस्थितम्। सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम्॥
आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य कालः स्वभावः सदसन्मनश्च। द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि विराट् स्वराट् स्थास्नु चरिष्णु भूम्नः॥
अहं भवो यज्ञ इमे प्रजेशा दक्षादयो ये भवदादयश्च। स्वर्लोकपालाः खगलोकपाला नृलोकपालास्तललोकपालाः॥
गन्धर्वविद्याधरचारणेशा ये यक्षरक्षोरगनागनाथाः। ये वा ऋषीणामृषभाः पितॄणां दैत्येन्द्रसिद्धेश्वरदानवेन्द्राः।
अन्ये च ये प्रेतपिशाचभूतकूष्माण्डयादोमृगपक्ष्यधीशाः॥
यत्किंच लोके भगवन्महस्वदोजःसहस्वद्बलवत्क्षमावत्। श्रीह्रीविभूत्यात्मवदद्भुतार्णं तत्त्वं परं रूपवदस्वरूपम्॥
(श्रीमद्भा० २। ६। ३८-३९, ४१—४४)

व्रजेश्वरको श्रीकृष्णके मुखमें अखिल विश्वका दर्शन

समस्त व्रजपुर अरुणोदयरागसे रञ्जित है। आम्रप्रशाखाओंमें छिपी कोकिल 'कुहू' 'कुहू' स्वर भर रही है। इतना मधुर स्वर, मानो कोकिल-कण्ठकी ओटमें रागजननी महामाया शैलेन्द्रनन्दिनी आज किसी सर्वथा नवीन, अत्यन्त रसमय रागका सृजन कर रही हों। अन्य विहंगमोंका कलरव, भौंरोंकी गुंजार, गोश्रेणीका हाम्बा-रव, गोपोंका 'हो-हो' आह्वान, गोपसुन्दरियोंका कलगान—इनसे व्रजेन्द्रकी पुरी मुखरित हो रही है। व्रजरानी भी इसी समय अपने नीलमणिकी नींद हटानेके उद्देश्यसे मधुर स्वरमें गा रही हैं—

जागिये, ब्रजराज कुँवर! कमल-कुसुम फूले।
कुमुद-बृंद सकुचित भए, भृंग लता भूले॥
तमचुर खग रोर सुनहु बोलत बनराई।
राँभति गौ खरिकनि में, बछरा हित धाई॥
बिधु मलीन रबि प्रकास, गावत नर नारी।
सूर स्याम प्रात उठौ, अंबुजकरधारी॥

व्रजेश्वर आज कुछ कारणवश गोष्ठ नहीं गये। प्रायः प्रतिदिन ही मध्यरात्रिका अवसान होते ही वे गोष्ठ चले जाते थे, पर आज रुक गये। कालिन्दीमें स्नान करके, संध्यावन्दनसे निवृत्त होकर वे शालग्रामपूजन करने जा रहे थे, पर अन्तर्मनमें श्रीकृष्णचन्द्रका चिन्तन होते रहनेके कारण नारायण-मन्दिरकी ओर न जाकर भूलसे शयनागारमें चले आये। वहाँ नीलमणिको जगानेमें तन्मय, आनन्द-निमग्न यशोदारानी उन्हें दीख पड़ती हैं और तब कहीं व्रजेशको अपनी भूलका भान होता है। ठीक इसी क्षण पुत्रके मुखपर डाले हुए उज्ज्वल दुकूलको व्रजरानी हटा देती हैं, एक अद्भुत आलोकमाला-सी सर्वत्र फैल जाती है, शयनागार उद्भासित हो उठता है, रविकिरणोंका स्पर्श पाकर विकसित हुए कमलोंकी भाँति नन्ददम्पतिका रोम-रोम हर्षसे खिल उठता है, हृदयमें आनन्दकी सरिता बह चलती है। व्रजेश निर्निमेष नयनोंसे पुत्रके मुखकी ओर देखने लगते हैं। उन्हें प्रतीत हो रहा है—ओह! मानो अभी-अभी सिन्धुमन्थन हुआ हो; यह धवल दुकूल नहीं, यह तो सागरके वक्षःस्थलपर एकत्रित फेन था, व्रजरानीका हाथ नहीं, मन्थनदण्ड था; मन्थनके आवेगसे फेन फट गया, पूर्णचन्द्र दीखने लग गया। क्या यह मेरे पुत्रका मुख है? नहीं-नहीं, यह तो अभी-अभी सागर-मन्थनसे उद्भूत पूर्णचन्द्र है—

भोर भएँ निरखत हरि कौ मुख, प्रमुदित जसुमति, हरषित नंद।
दिनकर-किरन कमल ज्यौं बिकसित, निरखत उर उपजत आनंद॥
बदन उघारि जगावति जननी, जागहु ललि गइ आनँदकंद।
मनहुँ मथत सुर सिंधु, फेन फटि, दयौ दिखाई पूरन चंद॥
जाकौं ईस-सेष-ब्रह्मादिक गावत नेति-नेति स्रुति-छंद।
सोइ गोपाल ब्रज मैं सुनि सूरज, प्रगटे पूरन परमानंद॥

जननीकी शत-शत मनुहार पाकर श्रीकृष्णचन्द्र आँखें खोलते हैं। शय्यासे उठाकर जननी उन्हें हृदयसे लगा लेती हैं। बारंबार मुख-चुम्बन करती हुई अस्त-व्यस्त केशोंको ठीक करने लगती हैं। फिर कनकझारीसे सुगन्धित जल लेकर मुखारविन्दका प्रक्षालन करती हैं। मुख धुलाकर, अपने सुकोमलतम क्षौम-आँचलसे पोंछकर नीलमणिको कलेवा करनेको कहती हैं तथा नीलमणि भी जननीकी लाड़भरी अभ्यर्थना स्वीकार कर कलेवा करते हैं—

कमल-नैन हरि करौ कलेवा।
माखन-रोटी, सद्य जम्यौ दधि, भाँति-भाँति के मेवा॥
खारिक, दाख, चिरौंजी, किसमिस, उज्ज्वल गरी, बदाम।
सफरी,* सेव, छुहारे, पिस्ता, जे तरबूजा नाम॥
अरु मेवा बहु भाँति-भाँति हैं षटरस के मिष्टान।
सूरदास प्रभु करत कलेवा, रीझे स्याम सुजान॥

कलेवा समाप्तकर मुख धुलाये बिना ही श्रीकृष्णचन्द्र जननीकी गोदसे उछल पड़ते हैं। हँसती हुई जननी पकड़ने उठ पड़ती हैं, किंतु इतनेमें तो नीलमणि शयनागारके बाहर चले आते हैं। उस द्वारसे नहीं कि जिसके समीप

* अमरूद।

नन्दराय खड़े हैं, दूसरे द्वारसे; क्योंकि उन्हें भय है, कदाचित् बाबा पकड़ न लें; पकड़ लेंगे तो खेलमें विलम्ब हो जायगा। उन्हें कुछ ही दूरपर आते हुए अंश, श्रीदाम, सुबल, अर्जुन आदि सखा दीख पड़ते हैं। बस, फिर तो पूछना ही क्या है, वे उन्हींकी ओर दौड़ पड़ते हैं, बालमण्डलीमें जा मिलते हैं।

अब व्रजेश्वरको यह स्मृति होती है कि शालग्रामसेवामें घड़ीभरसे अधिक विलम्ब हो चुका है। इतनी देर तो वे पुत्रका जागरण, कलेवा-भोजन देखनेमें तल्लीन हो रहे थे। पुत्रासक्तिवश इष्टसेवाकी ऐसी उपेक्षा, मेरे द्वारा इतनी अनवधानता, ओह!—व्रजेश्वर उद्विग्न हो जाते हैं। द्रुतगतिसे नारायण-मन्दिरकी ओर चल पड़ते हैं। वहाँ जाकर पूजामें मनोनिवेश करते हैं—

पाईं धोइ मंदिर पग धारे, प्रभु-पूजा जिय दीन्ह।
अस्थल लीपि, पात्र सब धोए काज देव के कीन्ह॥

हाथमें पुष्प लिये, अर्द्धनिमीलित-नेत्र-हुए व्रजेश प्रार्थना कर रहे हैं—'देव! पुत्रजन्मके पश्चात् एक दिन भी मैं तुममें तन्मय होकर तुम्हारा आराधन न कर सका। मैं स्पष्ट अनुभव कर रहा हूँ, इस बालकके प्रति मेरी आसक्ति प्रतिक्षण बढ़ती ही जा रही है। एक दिन था जब मेरे हृत्सिंहासनपर तुम नित्य विराजित रहते थे। निरन्तर तुम्हारी अभिराम मूर्ति मेरे नेत्रोंके सामने रहती थी; किंतु अब तो तुम्हारी स्मृति भी मुझे कदाचित् ही होती है। जो होती है, वह भी केवलमात्र इसलिये कि इस बालकका अनिष्ट-निवारण होता रहे। मेरे नेत्रोंमें, मेरे कानोंमें, मेरे प्राणोंमें, मेरे मनमें, मेरी बुद्धिमें, मेरे आत्मामें तो यह बालक भर गया है। एक क्षणके लिये भी मैं इसे भूल नहीं पाता। चिरकालीन अभ्यासवश शरीरसे, वाणीसे अर्चन-विधिका निर्वाह तो हो जाता है, क्रिया सम्पन्न हो जाती है; पर नाथ! मेरे मनमें तो आराधनाके समय भी यह बालक ही समाया रहता है। उपासनाकी यह विडम्बना—मेरे स्वामिन्! किस मुखसे कहूँ कि तुम इसे स्वीकार करो; किंतु करुणानिधे! तुम मेरी इस भावहीन अर्चनाको भी स्वीकार करते ही हो, किया है, आगे भी अवश्य करोगे.....।' व्रजेशका कण्ठ भर आता है। वे पुष्पोंको शालग्रामदेवके सिंहासनपर रखकर पुरुषसूक्तके मन्त्रोंसे पूजा आरम्भ करते हैं—

'ॐ पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥'
श्रीनारायणाय नमः, आसनं समर्पयामि।

"यह जो कुछ इस समय वर्तमान है, वह सब-का-सब परमपुरुष परमात्मा ही है। भूत एवं भविष्य जगत् भी परमात्मा ही है। इतना ही नहीं, वह परमात्मा मुक्तिका स्वामी है तथा ये जो अन्नसे उत्पन्न होनेवाले जीव हैं, उन समस्त जीवोंका शासक भी परमात्मा ही है। श्रीनारायणके लिये नमस्कार है। मैं उन्हें आसन समर्पण कर रहा हूँ।"

ठीक इसी समय खेलते हुए, अधरोंपर मन्द-मन्द मुसकान लिये श्रीकृष्णचन्द्र नारायणमन्दिरमें आ जाते हैं तथा पिताकी शालग्राम-अर्चना देखने लगते हैं—

बैठे नंद करत हरिपूजा, बिधिवत औ बहु भाँति।
सूर स्याम खेलत तैं आए देखत पूजा न्याति॥

व्रजेशने क्रमशः पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय समर्पणकर शालग्रामदेवको पञ्चामृतमें स्नान कराया; फिर शुद्धोदक स्नान कराकर वस्त्र समर्पित किये। तत्पश्चात् यज्ञोपवीत, चन्दन, पुष्प, पुष्पमाला, तुलसीदल, रत्नाभूषणसे देवको विभूषितकर धूपका आघ्राण कराया, दीप दिखलाया। विविध नैवेद्य निवेदन करके आचमन कराया, ताम्बूल अर्पण किया, हीरक-हेम-मणि-मुक्ताकी दक्षिणा समर्पित की; फिर साष्टाङ्ग नमस्कार करके कर्पूरवर्तिकासे नीराजन करने लगे। श्रीकृष्णचन्द्र सर्वथा शान्त खड़े देख रहे हैं—

नंद करत पूजा हरि देखत।
घंट बजाइ देव अन्हवायौ, दल चंदन लै भेटत॥
पट अंतर दै भोग लगायौ, आरति करी बनाई।

—किंतु जैसे ही आरती समाप्त हुई कि वे अपने दोनों हाथोंको नचाकर बोल उठते हैं—'बाबा! तुमने तो इतने भोग धराये, पर देवताने तो कुछ भी नहीं खाया'—

कान्ह कहत—बाबा तुम अरप्यौ, देव नहीं कछु खाई॥
(सूरदास)

'नारायण! नारायण!! मेरे इस अबोध पुत्रके द्वारा

यह एक महान् सेवापराध हो रहा है—व्रजेश एक बार तो श्रीकृष्णचन्द्रकी बातसे सिहर उठते हैं। केवल वे ही नहीं, व्रजरानी भी भयभीत हो जाती हैं। वे तो आगे बढ़कर नीलमणिके अरुण अधरोंपर धीरेसे अपनी अँगुली रख देती हैं कि जिससे वे आगे और कुछ न बोल सकें। यशोदारानी, जिस समय श्रीकृष्णचन्द्र कोलाहल करते हुए सखाओंके साथ नारायणमन्दिरकी ओर बढ़ने लगे थे, उसी क्षण पीछे-पीछे चली आयी थीं—इस आशङ्कासे कि कदाचित् मेरा चञ्चल नीलमणि जाकर व्रजेशकी देवपूजामें कोई विघ्न न उपस्थित कर दे। श्रीकृष्णचन्द्र पथमें अनेकों चञ्चल चेष्टाएँ करते भी आ रहे थे; किंतु मन्दिरके समीप आते ही वे शान्त हो गये, अन्य गोप-शिशु भी चुप हो गये। और बालक तो बाहरसे ही झाँककर देखने लगे, पर श्रीकृष्णचन्द्र भीतर चले गये। उन्हें मन्दिरमें प्रवेश करते देखकर जननी भी अविलम्ब भीतर चली आयी थीं। अवश्य ही भीतर आकर भी मैयाने इससे पूर्व कोई बाधा न दी थी; क्योंकि श्रीकृष्णचन्द्र अबतक बड़ी संयत मुद्रामें खड़े होकर पूजा देख रहे थे। अस्तु, सहसा जननीका निवारण पाकर तथा पिताकी भाव-भङ्गीमें परिवर्तन देखकर श्रीकृष्णचन्द्र कुछ और बोलनेसे रुक भी गये; पर वे समझ नहीं पाये कि मैयाने उन्हें क्यों रोका, बाबा उनकी बात सुनकर कम्पित क्यों हो गये। नितान्त सरल दृष्टिसे वे जननीकी ओर, बाबाकी ओर देखने लगते हैं, मानो वे इसका रहस्य समझना चाहते हों। पुत्रके भोले मुखमण्डल, निश्चल दृष्टिकी ओर व्रजेशका ध्यान आकर्षित हो जाता है। बस, फिर तो उनके अन्तस्तलमें स्नेहक शतशः धाराएँ एक साथ फूट पड़ती हैं; व्रजराजका मन, प्राण, बुद्धि, शरीर, इन्द्रियाँ—सभी उस धारामें बह चलते हैं। नीराजन-पात्र हाथमें लिये ही वे कुछ क्षणके लिये आत्मविस्मृत हो जाते हैं। व्रजरानीकी भी यही दशा है—

जसुदा देखति है ढिग ठाढ़ी।
बालदसा अवलोकि स्याम की प्रेम मगन चित बाढ़ी॥

किसी प्रकार आत्मसंवरण करके व्रजेशने शालग्राम-देवकी प्रदक्षिणा की—

धाता पुरस्ताद्यमुदाजहार शक्रः प्रविद्वान् प्रदिशश्चतस्रः।
तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते॥
ॐ नारायणाय नमः। प्रदक्षिणां समर्पयामि।

"पूर्वकालमें—व्यष्टि सृष्टिसे पूर्व ब्रह्माने जिसकी स्तुति की थी, इन्द्रने समस्त दिशाओंमें जिसे व्याप्त अनुभव किया था, उस परमात्माको जो इस प्रकार जानता है, वह इस जीवनमें ही अमृत (मुक्त) हो जाता है। मुक्ति—भगवत्प्राप्तिके लिये इससे अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं है।' नारायणके लिये नमस्कार है। मैं उन्हें प्रदक्षिणा समर्पण कर रहा हूँ।"

प्रदक्षिणा समाप्त करके वे विविध कुसुमोंसे अपनी अञ्जलि पूरितकर पुष्पाञ्जलि भेंट करने चले। उनके नेत्र निमीलित हैं। भक्तिभावका उद्रेक होनेसे व्रजरानीके नेत्र भी बंद हो गये हैं। ठीक इसी समय श्रीकृष्णचन्द्र धीरेसे आगे बढ़ जाते हैं, अतिशय शीघ्रतासे शालग्रामजीको सिंहासनसे उठाकर अपने मुँहमें रख लेते हैं तथा ऐसा करके फिर ज्यों-के-त्यों यथास्थान खड़े हो जाते हैं। जननीने सर्वथा नहीं जाना कि नीलमणिने ऐसी लीला रच दी है। व्रजेश्वर तो जानते ही कैसे; क्योंकि वे तो इस समय अपने इष्टदेवकी समाधिमें लीन हो रहे हैं। अभी-अभी नन्दरायजीने शालग्रामजीसे यह प्रार्थना की थी—'देव! इतनी-सी वासना है—अन्तस्तलमें इतनी-सी आकाङ्क्षा अवशिष्ट है, वह मिटती नहीं, बल्कि प्रतिक्षण तीव्रतर होती जा रही है। वह यह कि मेरा यह पुत्र चिरंजीवी हो, अनन्तकालतक सुखसे रहे, दुःखकी छाया भी इसे न छू सके। पर नाथ! यह तभी सम्भव है, जब मैं इसे तुम्हारे चरणोंमें समर्पण कर दूँ; अन्यथा यह अतिशय चञ्चल है, इससे अनेकों अपराध होते हैं। अभी-अभी इसने तुम्हारा अपराध किया है; दयामय! इसे क्षमा करना। भक्तवाञ्छाकल्पतरो! क्षणभरके लिये, पहलेकी भाँति तुम्हारी मूर्ति मेरे ध्यानमें उदय हो जाय; तुम्हारे पद्मदलायत नयनोंसे झरती हुई सुधा-धाराका एक कण पाकर मेरे अणु-अणु सिक्त हो जायँ तथा फिर तुम्हारे शीतल-शंतम चरणपङ्कजकी छायामें मैं अपने पुत्रको रख दूँ, रखकर सर्वथा निश्चिन्त हो जाऊँ।' व्रजेशकी यह प्रार्थना समाप्त होते-न-होते उनके हृत्पद्मपर उनकी इष्टमूर्ति प्रकाशित हो गयी।

श्रीकृष्ण-जन्मसे पूर्व इसी रूपके अखण्ड चिन्तनमें नन्दराय निरन्तर निमग्न रहते थे। इसी रूपके साक्षात् प्रत्यक्ष दर्शन एक बार आनकदुन्दुभि श्रीवसुदेवने भी कंस-कारागारमें निशीथके समय किये थे। इस रूपकी छटा भी निराली ही है—

सिर पुरट मुकट छबि धृत उदंड।
मनि जटित जोति कोटिन प्रचंड॥
सो सुभाग्य भाल सोभा नरिंद।
मृगदान बिंदु निंदक मिलिंद॥
भ्रूभंग बाल अवलीन ऐन।
रहि अमल कमल दल नखल नैन॥
कच कुंच मेच चिकने अबंध।
जे सने दिब्य सौरभ सुगंध॥
मनिकिरन मकर कुंडल बिलोल।
छबि गिलत उगल गौरव कपोल॥
सुक तुंड मंडि नासा सुकोस।
झलझलत खुलत जनु जलज जोस॥
छबि अधर सधर रँग चुवत लाल।
बंधूक दूख बिंबा प्रबाल॥
दिबि दसन दीसि दमकत सुदेस।
जनु कुंद कुलिस कर निकर बेस॥
मृदु मंद हास हुलस्यौ हुलास।
सुख सिंधु सींव कीन्हौं प्रकास॥
ठोड़ी सुरूप ब्रग ठहरि बाढ़ि।
मनु परिब गाढ़ि को सकहि काढ़ि॥
कल कंबु कंठ लावन्य चारु।
तहँ कौस्तुभ किरनोदय उदारु॥
सुभ बक्ष लक्ष भृगु पद रसाल।
मनि मुकुलि मल्लिका मुक्तमाल॥
भुज चारि चारु आबद्ध चारि।
दर पद्म गदा कर चक्र धारि॥
आजान बाहु मनि बाहुबंध।
उन्नत बिसाल बलि बंध कंध॥
कर कंज करज चितु लेत चोर।
छबि बनक कनक कंकननि जोर॥
लखि रोम रेख नाभी रसाल।
धसि अमिय कुंड कुंडलिय बाल॥
त्रिवलीन लीन मनु छोड़ि दंभ।
छबि होति जहाँ छन-छन अरंभ॥
जगमगति जोति जग्योपवीत।
लिय सघन घटा दामिनी जीत॥
पटु पीत, पीत धोती अनूप।
जिन जातरूप कीन्हौं बिरूप॥
मनिबद्ध किंकिनी मद्धदेस।
कलहंस बंस रव करि सुबेस॥
प्रन प्रभा पौंडुरिन लयौ पीन।
मनु गुलफ सुलफ आधीन दीन॥
दुखहरन चरन पंकरुह कोस।
नख-चंद्र चंद्रिका वै अदोस॥
पगतलनि चिह्न चिह्नित सुदेस।
भुज-बज्र-गदादिक जव बिसेस॥
जिनि चरन कढ़ी सुरधुनी धार।
त्रैताप साप पातक बिदार॥
जे चरन सेस सनकादि बंदि।
श्रुति सारद नारद लखि अनंदि॥
जे चरन ध्याइ अज ईस ध्यान।
ते कहहिं कहा लघुमति 'गुमान'॥

सलोने सिरपर सुवर्णका विशाल मुकुट है; उसमें विविध मणियाँ विजड़ित हैं; इन मणियोंकी ज्योति ऐसी है, मानो कोटि-कोटि सूर्योंका प्रकाश पुञ्जीभूत हो गया हो। सुन्दर भालपर कस्तूरीबिन्दु सुशोभित है; बिन्दुयुक्त भालकी यह शोभा कमलदलपर बैठे हुए भ्रमरकी शोभाको तुच्छ— नगण्य बना दे रही है। भौंहें क्या हैं, मानो भ्रमरशावकोंने पङ्क्तिबद्ध होकर अपने लिये गृहका निर्माण किया हो— गृह भी कहाँ? नव विकसित शुभ्र कमलोंकी शोभा धारण करनेवाले नेत्रोंके समीप, नेत्र-कमलोंके कोरपर। सुचिक्कण काली, घुँघराली अलकें मुखारविन्दके दोनों ओर बिखरी हुई हैं; वे अलकें दिव्य सौरभ, दिव्य सुवाससे सनी हैं। कानोंमें मकराकृति मणिकुण्डल हैं, वे चञ्चल हो रहे हैं; इन चञ्चल कुण्डलोंका प्रतिबिम्ब गुलाबी कपोलोंपर नाच रहा है। प्रतिबिम्ब कभी प्रत्यक्ष होता है तो कभी विलुप्त,

मानो अरुण कपोल इस कुण्डलशोभाको कभी उगल देता है तो कभी निगल जाता है। नासापुट शुकचञ्चुके समान सुन्दर हैं, श्वास-प्रश्वासके कारण उनमें स्पन्दन हो रहा है; ओह! यह स्पन्दन नहीं, मानो बयारके आवेशसे कमल झलमल-झलमल कर रहा हो, कमलदल खुल जा रहे हों। अरुण वर्ण अधरोंसे शोभा झर रही है; इसे देखकर बन्धूक, बिम्बफल, प्रवाल वेदनामें भरकर सोच रहे हैं—'आह! मेरी लालिमा ऐसी नहीं हुई!' दिव्य दन्तपङ्क्ति बड़ी ही सुन्दर है, चमचम कर रही हैं; उनमें ऐसी दीप्ति है, मानो वे कुन्दपुष्प हों। नहीं-नहीं, इन्द्र-वज्रकी विद्युन्मयी किरणें एकत्र होकर दसनपङ्क्तिके रूपमें परिणत हो गयी हैं। मन्द मृदु हास तो आनन्दकी, उमंगकी लहरें हैं; मानो आनन्दसागर चरम सीमातक उमड़ आया हो। ओह! देखो, ठोड़ी कैसी सुन्दर है, अब नेत्र तो यहाँसे हटते नहीं; अरे! यहाँ भी सौन्दर्यकी बाढ़ आयी हुई है। यह लो! नेत्र इस बाढ़में जा धँसे, अत्यन्त गहरे जलमें डूब गये; अब किसकी सामर्थ्य कि इन्हें निकाले! शङ्खके समान सुन्दर कण्ठका लावण्य भी कितना रमणीय है। अरे! इसपर तो कौस्तुभकी विशद किरणें भी पड़ रही हैं। यह देखो, सुन्दर वक्षःस्थलपर शुभ भृगुपद-चिह्न स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है; मणियोंकी, मुकुलित मल्लिकाकी, मुक्ताकी मालाओंसे वक्षःस्थल भूषित हो रहा है। सुन्दर चार भुजाएँ हैं; उन चारोंमें क्रमशः शङ्ख, गदा, चक्र एवं कमल सुशोभित हैं। आजानुलम्बित बाहु भुजबन्ध (बाजूबन्द)-से विभूषित हैं। उन्नत विशाल कंधोंकी शोभापर तो बलिहार है! विकसित कमल-जैसी हथेली, कमलदल-जैसी नखश्रेणी—ये चित्तको चुरा ले रहे हैं। कनक-कङ्कणोंकी शोभा विचित्र ही है। यह सुन्दर नाभिकूप! उसपर रोमरेखा!! ओह! देखकर ठीक प्रतीत हो रहा है, मानो यह नाभि नहीं, अमृतकुण्ड है; यह रोमरेखा नहीं, पन्नगशावक (साँपका बच्चा) है; अमृतपान करनेके लिये अमृतकुण्डमें उतर पड़ा है। रे मन! श्रीहरिके उदरपर उदय हुए इस त्रिवलीका सौन्दर्य तो निहार! अरे! मन तो सारा कपट छोड़कर इन त्रिवलियोंमें ही विलीन हो गया! क्यों न हो, यहाँ तो क्षण-क्षणमें नव-नव शोभाका प्रसार जो हो रहा है। यज्ञोपवीतकी ज्योति जगमग कर रही है। ओह! श्रीहरिके नील कलेवरपर पीताभ यज्ञोपवीतकी शोभाने तो दामिनीसमन्वित सघन घटाको भी हरा दिया। पीताम्बर दुकूल, पीत धोती—इनकी किससे उपमा दें? सुवर्ण तो इनके सामने सर्वथा रूपहीन है। कटि-देशमें मणिजटित किङ्किणीकी लड़ियाँ झूल रही हैं; इनसे रुचिर शब्द हो रहा है, मानो मनोहर हंसश्रेणी कलरव कर रही हो। पीन पिंडलियोंने तो ज्योति बिखेरनेका प्रण ले रखा है और इन गुल्फों (एँड़ीके समीपकी गाँठ)-की गठन तो देखो! पतले हैं, अत्यन्त सुकोमल हैं; इनमें किञ्चित् कम्पन भी हो रहा है। अरे! ये तो जैसे अपनी अधीनता घोषित कर रहे हों! 'पिंडलियोंके नीचे हमारा निवास है, इसीलिये हम पतले हैं, कोमल हैं, कम्पित हो रहे हैं।' अब पङ्कजकोशकी शोभा धारण किये हुए, समस्त दुःखद्वन्द्व-हरणशील चरणोंकी ओर देखो! और ये दस चरणनख-अरे! ये तो दस चन्द्र हैं। देखते नहीं, निर्मल ज्योत्स्ना फैली हुई है। जय हो! ध्वज, वज्र, गदा, यव आदि चिह्नोंसे चिह्नित श्रीहरिके चरणतलकी जय हो!! जिनसे स्वर्मन्दाकिनीकी त्रितापनाशिनी, शापमोचनी, पातकविदारिणी धारा निर्गत हुई। जिन चरणोंकी शेष-सनकादि निरन्तर वन्दना करते हैं, जो श्रुति-सरस्वतीदेवर्षिके लिये आनन्दस्रोत हैं, अज-महेशके ध्यानधन हैं, उन हरि-चरणोंकी जय हो!!!

—व्रजेश्वर अपनी इसी उपर्युक्त इष्ट मूर्तिको आज अचानक ध्यान-पथमें पाकर पुलकित हो रहे हैं; किंतु ध्यान करते-करते ही उन्हें यह अनुभूति होने लगती है कि मेरी यह इष्ट मूर्ति ठीक वहाँ, उस स्थानपर है, जहाँ व्रजरानीके पार्श्व देशमें मेरा पुत्र अवस्थित है, नहीं-नहीं यह मूर्ति मानो मेरे पुत्रके अङ्गोंमें ही अङ्कित है। इसके साथ ही नन्दरायको ऐसा भान होने लगा कि मानो हृदयके अन्तस्तलमें मधुमय कण्ठसे, हँस-हँसकर कोई कह रहा हो—'गोपेन्द्र! तुम तो पुत्रको इष्टदेवके चरणोंमें निक्षेप करने आये थे; पर तुम्हारे पुत्रने तो इष्टदेवको ही अपने मुखमें निक्षिप्त कर रखा है, आँख खोलकर देखो तो सही!' बस, सचमुच उसी क्षण

व्रजेशकी आँखें खुल ही जाती हैं तथा वे सिंहासनकी ओर देखते हैं। उन्हें दीखा—इष्टदेव वहाँ नहीं हैं!!

'व्रजरानी! व्रजरानी!! इष्टदेव क्या हो गये?'—व्रजेश्वर जोरसे पुकार उठे। यशोदारानी नेत्र बंद किये शालग्रामजीसे नीलमणिके लिये कल्याण-भिक्षा माँग रही थीं। नन्दरायकी उद्विग्नताभरी पुकार सुनकर वे भी आँखें खोलकर इधर-उधर देखने लगती हैं। सहसा एक साथ ही नन्ददम्पतिकी दृष्टि श्रीकृष्णचन्द्रके उभरे हुए कपोलोंकी ओर आकर्षित हो जाती है। 'हैं! कहीं श्रीकृष्णने ही तो नहीं·····।' कहते-कहते व्रजराज आसनसे उठ पड़ते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रके समीप चले आते हैं। यशोदारानी भी शङ्कित-सी हुई सोच रही हैं कि कहीं मेरे नीलमणिने शालग्रामजीको उठाकर मुखमें तो नहीं रख लिया? फिर तो महान् अनर्थ हो गया·····। जननी श्रीकृष्णचन्द्रका चिबुक अपने हाथपर लेकर, उसे किञ्चित् ऊँचा करके देखने लगती हैं। देखनेपर संदेह और भी दृढ़ हो जाता है। 'नीलमणि! मेरे लाल! तू अपना मुख खोलकर दिखा तो दे।'—जननीने चुचकारकर कहा। व्रजेशको तो सर्वथा निश्चय हो चुका था। अतः उन्होंने अपना दाहिना हाथ श्रीकृष्णचन्द्रके अधरोंके समीप लगा दिया—इस आशङ्कासे कि बालक कहीं भयभीत होकर शालग्रामजीको उगल दे तो वे पृथ्वीपर गिर जायँगे; हाथ सामने रहेगा तो वे मेरे हाथपर ही गिरेंगे। किंतु श्रीकृष्णचन्द्र न तो उगलते हैं न कुछ बोलते हैं; केवल मात्र बाबाकी ओर देखते रहते हैं। अस्त-व्यस्त-से हुए व्रजेश प्रार्थना करते हैं—'जगन्नाथ! रक्षा करो, इस अबोध बालकके द्वारा अक्षम्य अपराध बन गया है; इस अपराधका प्रायश्चित्त मैं करूँगा। प्राणीके समस्त कर्मोंके साक्षीभूत तुम्हारे ही रूप—सूर्य, अग्नि, आकाश, वायु, इन्द्रियाँ, चन्द्र, संध्या, रात्रि, दिन, दिशाएँ, जल, पृथ्वी, काल एवं धर्म—

सूर्योऽग्निः खं मरुद्भावः सोमः संध्याहनी दिशः।
कं कुः कालो धर्म इति ह्येते देहस्य साक्षिणः॥

(श्रीमद्भा० ६। १। ४२)

'इन देवोंके समक्ष मैं निश्चय कर कह रहा हूँ कि मेरे द्वारा अब तुम्हारा अखण्ड स्मरण ही होगा। इस स्मरणके फलस्वरूप मेरे इस पुत्रकी सभी अनिष्टोंसे रक्षा होती रहे, मैं इतना ही चाहता हूँ।' नन्दराय कातर होकर पुत्रके मुखकी ओर देखते हुए इसीकी बारंबार मन-ही-मन आवृत्ति करने लगे। ठीक इसी समय श्रीकृष्णचन्द्र खिलखिलाकर हँस पड़े। मानो—

हासो जनोन्मादकरी च माया दुरन्तसर्गो यदपाङ्गमोक्षः॥

(श्रीमद्भा० २। १। ३१)

'श्रीहरिकी जगन्मोहिनी माया ही उनकी मुसकान है। यह अनन्त सृष्टि उसी मायाका ही कटाक्ष-विक्षेप है।'

—इस उक्तिका एक निदर्शन व्रजेशको दिखानेके लिये स्वयं अघटघटनापटीयसी योगमाया ही श्रीकृष्णचन्द्रके बिम्बाधरकी ओटसे हँस पड़ी हों, हँसकर कह रही हों—'व्रजेश! चिन्तित मत हो, तुम्हारे पुत्रका अनिष्ट करनेकी सामर्थ्य किसीमें भी नहीं; कर्मसाक्षी सूर्य, वह्नि, वियत्, मरुत् आदि तो तुम्हारे पुत्रके मुखमें हैं!'

हुआ भी यही। हँसते हुए श्रीकृष्णचन्द्रके मुखमें शालग्रामजी व्रजेशको दीख जाते हैं। श्रीकृष्णचन्द्र अपनी नन्हीं-नन्हीं अङ्गुलियोंसे शालग्रामजीको मुखसे निकालकर बाबाके हाथपर रख देते हैं। इधर इष्टदेव तो हाथमें आ गये और उधर श्रीकृष्णचन्द्रके मुखमें व्रजेशको एक अद्भुत दृश्य दीखने लगता है—अरे! अरे! यह क्या! यह वैचित्र्य! यह महान् आश्चर्य! मेरे पुत्रके मुखमें तो त्रिभुवन—समस्त जगत् स्पष्ट वर्तमान है!—व्रजेश दंग रह गये। उनकी वाणी रुद्ध हो गयी। वे कुछ भी बोल न सके—

बदन पसारि सिला जब दीन्ही, तीनौ लोक दिखाये।
सूर निरखि मुख नंद चकित भए, कछू बचन नहिं आये॥

यशोदारानीको यह पता नहीं कि व्रजराज ऐसी लीला देख रहे हैं। वे तो इतना ही देख रही हैं कि गम्भीर होकर आँख फाड़े हुए वे मेरे नीलमणिकी ओर एकटक देख रहे हैं। वे तो यह समझ रही हैं कि इष्टदेवके अपमानसे व्रजराज किञ्चित् क्षुब्ध-से हो गये हैं। इसीलिये परिस्थितिकी गम्भीरता मिटानेके भावसे वे कहने लगती हैं—'व्रजेश! अब देर मत करो, शीघ्र शुद्ध जलसे स्नान कराकर इन्हें सिंहासनपर विराजमान

करो।' पर व्रजेशके कानोंमें तो वे शब्द पहुँचे ही नहीं। हाँ, श्रीकृष्णचन्द्र जननीका अञ्चल हिलाकर एक बार पुनः हँस पड़े। हँसी ठीक वैसी ही है, वही है जिसके अन्तरालसे अभी-अभी व्रजेशके विश्वदर्शनकी अनुभूति निकली थी; पर इस बार वह कुछ नवीन अनुभव देने—नहीं, अनुभूतिको समेटने आयी है। वास्तवमें क्षणभरमें ही व्रजेशको इस विश्वदर्शनकी सर्वथा विस्मृति हो जाती है। श्रीकृष्णचन्द्रमें कुछ विशेषता भी है, यह बात उनके स्मृति-पथसे बिलकुल उतर जाती है।

योगमायाने यद्यपि यह जना तो दिया कि "व्रजेश! अभी अर्चनाके समय तुम जिन परमात्माकी, आदि पुरुषकी महिमा गान कर रहे थे—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥
एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि॥
तस्माद् विराडजायत विराजो अधिपूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः॥

'उन परमात्माके सहस्रों-अनन्त मस्तक हैं, सहस्र—अपरिमित नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, सहस्र—असंख्य पाद आदि कर्मेन्द्रियाँ हैं, वे सर्वान्तर्यामी हैं, समस्त ब्रह्माण्डोंकी भूमिको सब ओरसे व्याप्त करके स्थित हैं तथा साथ ही इससे दस अंगुल ऊपर भी हैं—ब्रह्माण्डमें व्यापक होते हुए वे इससे परे भी हैं। भूत-वर्तमान-भविष्यकालसे सम्बन्ध रखनेवाला समस्त जगत् इस पुरुषकी ही महिमा है, इस परमात्माका ही विभूतिविस्तार है; उसका स्वरूप इतना ही नहीं, वह तो इस ब्रह्माण्डमय विराट्से भी बहुत अधिक विशाल है। प्रपञ्चके अन्तर्गत तीनों लोक तो उसके एक पादमें अवस्थित हैं—उसके चतुर्थांशमें ही समाप्त हो जाते हैं; अभी तीन पाद और अवशिष्ट रह जाते हैं। यह त्रिपादस्वरूप अमृत है—अविनाशी है तथा वह अपने स्वरूपमें ही स्थित है। यह त्रिपादपुरुष ऊपर उठा हुआ है—यह अज्ञानसम्भूत संसारसे सर्वथा पृथक् है, सांसारिक गुण-दोषोंसे सर्वथा अछूता रहकर ऊँची स्थितिमें विराजित है। उसका एक अंशमात्र मायाके सम्पर्कमें आकर यहाँ जगत्के रूपमें उत्पन्न हुआ; फिर वह जड-चेतनमयी विविध सृष्टिके रूपमें स्वयं ही फैल गया। फैलकर सब ओर व्याप्त हो गया। उस आदिपुरुष परमात्मासे ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति हुई। ब्रह्माण्डपर उसका एक अभिमानी पुरुष प्रकट हुआ। वास्तवमें तो परमात्मा ही ब्रह्माण्डकी रचना करके स्वयं ही जीवरूपमें उसमें प्रविष्ट हो गया। वही जीव ब्रह्माण्डका अभिमानी देवता हुआ। वही विराट्पुरुष पुनः देव, तिर्यक्, मनुष्य आदि अनेकों रूपोंमें प्रकट हुआ। इसके पश्चात् उसने भूमिको उत्पन्न किया, फिर जीवशरीरोंकी रचना की।'

—इस प्रकार मन्त्रोच्चारण करते हुए जिनके चरणोंमें पूजोपचार अर्पण कर रहे थे, 'वह परमात्मा, वह आदि-पुरुष यह तुम्हारा पुत्र ही है।' किंतु व्रजेशके वात्सल्यस्निग्ध हृदयमें इस तत्त्वके लिये स्थान कहाँ। यह तो व्रजेश्वरके मनमें क्षणिक भावान्तर उत्पन्न करनेके लिये, उनके हृदयमें नित्य प्रवाहित वात्सल्यसिन्धुको तरङ्गित करनेके लिये एवं लीलाक्रमको नियन्त्रित रखनेके लिये योगमायाने ऐश्वर्यका एक चित्रपट बीचमें मिला दिया। अन्यथा वे पहलेसे जानती हैं कि व्रजेश्वरको इस ऐश्वर्यकी आवश्यकता नहीं, वे कभी इसे लेंगे भी नहीं। अस्तु।

शालग्रामदेवको पुनः जलसे नहलाकर पूर्ववत् विभूषितकर व्रजेश उन्हें सिंहासनपर पधरा देते हैं। पधराकर श्रीकृष्णचन्द्रसे कहते हैं—'मेरे लाल! शालग्रामजीको तू माथा टेककर प्रणाम कर ले।' श्रीकृष्णचन्द्र प्रणाम करते हैं। शङ्खजल लेकर व्रजेश श्रीकृष्णचन्द्रपर छिड़क देते हैं। श्रीकृष्णचन्द्र धोती पकड़कर हँसने लगते हैं। फिर तो व्रजेश सब कुछ भूलकर उन्हें हृदयसे लगा लेते हैं। वास्तवमें श्रीकृष्णचन्द्र चाहे कुछ भी क्यों न हों, व्रजेशकी दृष्टिमें तो वे अनादिकालसे उनके पुत्र हैं, अनन्तकालतक उनके पुत्र ही रहेंगे—

हँसत गोपाल नंद के आगैं, नंद सरूप न जान्यौ।
निर्गुन ब्रह्म सगुन लीलाधर, सोई सुत करि मान्यौ॥

हाऊ-लीला

उपयुक्त उपमा न पाकर संकुचित सरस्वती लीलादर्शी कविके हृदयमें इतना ही कह सकीं—मानो एक हंस हो और एक मयूर; हंसने तो अपने चारु चञ्चुसे मोती उठाकर मुखमें रख लिया, मयूरने पन्नगीको पकड़ लिया—इस प्रकार दौड़कर बलरामने व्रजरानीकी नासिकापर सुशोभित मोती (बुलाक)-को पकड़ा एवं श्रीकृष्णचन्द्रने पीठपर बल खाती हुई वेणीको। दोनों भाइयोंने जननीको तत्क्षण गृहकार्य स्थगित कर देनेके लिये विवश कर दिया। दो बार हो चुका, दोनों माखनरोटीके लिये जननीको पुकार रहे थे। जननी भी पुकार सुन रही थीं, किंतु इस मधुर आह्वानसे झरते हुए सुधारसका आस्वाद लेती हुई—'देखें, ये दोनों उत्तर न पानेपर क्या करते हैं' इस भावसे—झूठ-मूठ ही कामका बहाना करके विलम्ब कर रही थीं। जननीकी यह उपेक्षा राम-श्याम सह नहीं सके, समीप जाकर इस प्रकार पकड़कर उन्हें काम करनेसे रोक दिया। दूर खड़े व्रजेश्वर पुत्रोंकी यह छवि देख रहे हैं, आनन्दसे लोट-पोट हो रहे हैं। पुत्रोंके द्वारा रुद्ध अत्यन्त पुण्यशालिनी व्रजरानीके अन्तस्तलमें भी आनन्दकी धारा बह चलती है। ओह! व्रजेश्वरि! सचमुच तुम्हारे वे अनन्त पुण्यपुञ्ज कैसे, किस जातिके हैं, जिनका यह पुरस्कार तुम्हें आज मिल रहा है?

दोउ भैया मैया पै माँगत, दै री मैया, माखन रोटी।
सुनत भावती बात सुतन की, झूठहिं धाम के काम अगोटी॥
बल जू गह्यौ नासिका-मोती, कान्ह कुँवर गहि दुरि करि चोटी।
मानौ हंस मोर भष लीन्हे, कबि उपमा बरनै कछु छोटी॥
यह छबि देखि नंद-मन आनँद, अति सुख हँसत जात हैं लोटी।
सूरदास मन मुदित जसोदा, भाग बड़े कर्मनि की मोटी॥

जननीने काम छोड़कर दोनों पुत्रोंको एक साथ गोदमें उठा लिया और वे उन्हें अन्तर्गृहमें ले गयीं। दोनोंके हाथोंपर सुन्दर सुपक्व रोटी एवं एक-एक उज्ज्वल नवनीतपिण्ड रख दिया। फिर तो कृष्ण-बलरामके आनन्दकी सीमा नहीं। बलराम तो रोटी पाते ही आनन्द-कोलाहल करते हुए रोहिणीजीके पास दौड़ गये तथा श्रीकृष्णचन्द्र वहीं जननीके सम्मुख बैठकर सुख-निमग्न-से हुए माखनमण्डित रोटीकी ओर देखने लगे। विकसित अरविन्द-जैसी हथेली है, उसपर रोटी रखी है एवं रोटीपर शुभ्र शशधरके समान उज्ज्वल वर्ण नवनीतखण्ड है—नहीं, नहीं, स्वयं गगनचन्द्र ही मानो श्रीकृष्णचन्द्रका स्पर्श पानेके लिये रवि-किरणोंकी चादरमें अपनेको छिपाये रोटीपर उस रूपमें उतर आया है; किंतु यहाँ आते ही वह सोचने लगा—'क्या यह श्रीकृष्णचन्द्रकी हथेली है? नहीं, हथेली नहीं, यह तो विकसित अरविन्द है।' फिर तो चन्द्रको स्मृति हो आयी—'अरे! अरविन्द तो मेरा सनातन शत्रु है, उसे तो मेरा मुख सुहाता नहीं; संध्याका अनुगमन करते हुए जब-जब मैं दिक्पथमें उतरा हूँ तब-तब इसे निमीलितनेत्र ही मैंने पाया; कभी इसने मेरा स्वागत नहीं किया, फिर मैं इसका मुख क्यों देखूँ!' यह सोचकर ही चन्द्रने नेत्रोंपर ढक्कन लगा लिया; यह रोटी नहीं, मानो नवनीतरूप चन्द्रके नेत्रोंपर लगा हुआ ढक्कन है—

हरि कर राजत माखन रोटी।
मनु बारिज ससि बैर जानि जिय गह्यौ सुधा सस धौटी॥

अस्तु, श्रीकृष्णचन्द्र अपने अम्बुजकोष-सदृश मुखको खोलकर धीरे-धीरे माखनरोटी मुखके भीतर ले जाते हैं तथा उल्लासभरी दृष्टिसे जननीकी ओर देखने लगते हैं। यह शोभा भी अनुपम ही है। एक बार पुनः वाग्वादिनी (सरस्वती)-का प्रयास व्यर्थ हो जाता है; वे समुचित तुलना ढूँढ़ न सकीं, पर कुछ भी कहे बिना रहा नहीं गया, सर्वथा मोटी उपमा ही उनके मुखसे बरबस निकल गयी—

मेली सजि मुख अंबुज भीतर, उपजी उपमा मोटी।
मनु बराह भूधर सह पुहुमी धरी दसन की कोटी॥

जो हो, रोटीका अष्टमांशमात्र भोजन कर अवशिष्टमेंसे कुछ अंश तो श्रीकृष्णचन्द्रने वहीं फेंक दिया तथा

कुछ हाथमें लिये बलरामको पुकारते हुए रोहिणी मैयाके पास दौड़ चले। द्वारपर व्रजेश्वर प्रतीक्षा कर रहे थे—मेरा लाल माखन-रोटी खाकर अब आता ही होगा। प्रतीक्षा पूरी हुई। श्रीकृष्णचन्द्र आये तथा बाबाकी धोती पकड़कर कहने लगे—'बाबा! तुमने तो अभी कलेवा ही नहीं किया और मैं दो बार माखन खा आया। क्या तुम्हें भूख नहीं लगती?' उनके यह कहते-कहते ही दोनोंका आनन्द उमड़ा, दो धाराएँ दो ओरसे बह चलीं—व्रजेशके नेत्रोंसे अश्रुजलके रूपमें, श्रीकृष्णके श्यामल अङ्गोंसे नृत्यके रूपमें। अपने नेत्र पोंछते हुए बाबा देख रहे हैं तथा श्रीकृष्णचन्द्र नृत्य कर रहे हैं। नग्न नील अङ्गोंसे ज्योति झर रही है, बन्धूकवर्ण अधरोंपर हास्य है, जननीके द्वारा स्नेहसे सँवारी हुई अपनी चोटीपर हाथ रखकर उल्लासमें भरे, समस्त अङ्गोंको नचाते हुए वे नाच रहे हैं। नवनीतसिक्त होकर, श्रीकृष्ण-अधरामृतमें स्नानकर, वहाँ बहती हुई आनन्दधाराके तटपर रोटीका एक टूक भी शान्त पड़ा है—

नगन गात मुसकात तात ढिग नृत्य करत गहि चोटी।
सूरज प्रभु की लहै जु जूठनि लागनि ललित लपोटी॥

नाचते हुए ही श्रीकृष्णचन्द्र बलरामकी ओर चल पड़ते हैं, फिर बलरामको साथ लेकर सैकत-पुलिनकी ओर। गोपसखाओंकी मण्डली जुड़ते देर नहीं लगती। आगे-पीछे दौड़कर सभी पुलिनके समीप तमालवनमें एकत्र हो जाते हैं तथा वृक्षोंकी शीतल छायामें क्रीड़ा प्रारम्भ होती है—

हाथ तारी देत भाजत, सबै करि करि होड़।
बरजै हलधर, स्याम, तुम जनि चोट लागै गोड़॥
तब कह्यौ मैं दौरि जानत, बहुत बल मो गात।
मेरी जोरी है श्रीदामा, हाथ मारे जात॥
उठे बोलि तबै श्रीदामा, जादु तारी मारि।
आगैं हरि पाछैं श्रीदामा, धर्‌यौ स्याम हँकारि॥
जानि कै मैं रह्यौ ढाढ़ौ, छुवत कहा जु मोहि।
सूर हरि खीझत सखा सौं, मनहिं कीन्हौ कोहि॥

इधर आधी घड़ी भी नहीं हुई है, किंतु जननीके लिये तो श्रीकृष्ण-अदर्शनका यह काल कोटि युगके समान हो चला। यदि कुलदेव नारायणकी परिचर्याव्यवस्थाका भार व्रजरानीपर न होता तो वे छायाकी भाँति केवल पुत्रका अनुसरण ही करती रहतीं। 'इस सेवाका भार मैं किसपर सौंपूँ, न जाने कब कौन-सी त्रुटि रह जाय। मेरे कुलका, मेरे नीलमणिका मङ्गल तो एकमात्र नारायणकी प्रसन्नतापर ही निर्भर है; उनकी यत्किञ्चित् सेवा भी मैं दूसरेसे कराऊँ, यह तो कृतघ्नताकी चरम सीमा हो जायगी।'—ये विचार ही व्रजरानीको रोक लेते हैं। रोक लें, नीलमणि मनमें तो निरन्तर नाचते ही रहते हैं। कई बार तो जननी नीलमणिकी मानसिक मूर्तिमें ऐसी तन्मय हो जाती हैं कि उसे सर्वथा सच मानकर उसीसे सुखी-दुखी हो जाती हैं। कलकी ही तो बात है। ग्रीष्मके आतपने एक क्षुद्र बवंडरका संचार कर दिया, तरुश्रेणी एक बार वेगसे हिल गयी। नन्दरानीके मनपर नाचते हुए नीलमणि एवं इस वायु-प्रवाहका संयोग हो गया। साथ ही सजातीय उपकरण पाकर अन्तश्चेतनामें तृणावर्त दैत्यकी संचित स्मृति भी ऊपर उठ आयी। बस, फिर तो नन्दरानी सत्यको भूलकर तृणावर्तका उत्पात उसी क्रमसे प्रत्यक्ष देखने लगीं। जननीके नेत्रोंके सामने एक बार वही दृश्य नाच उठा—

अकास भूमि धूरि पूरि बृच्छ चूरि ह्वै गये।
प्रचंड धुंधकार सौं दिसा बिभाग छ्वै गये॥
अदृष्ट दृष्टि दुष्ट देह पुष्ट बीज देखिये।
अघात सब्द कौं करै गरज्न गाज लेखिये॥
अभीर भीर पीर सौं सपीर धेनु जाल में।
अकाल ग्वाल देखि कै बिहाल ग्वाल बाल में॥
निहारि बाल रूप कौं सगर्ब दूर ह्वै गयौ।
प्रकोपि नंदलाल कौं उठाइ ब्योम लै गयौ॥

तथा जननी 'हाय-हाय' करके दौड़ीं। किंतु समीपमें ही खेलते हुए श्रीकृष्णचन्द्र ठीक उसी समय वहाँ आ गये और बोल उठे—'री मैया! मेरी गेंद उद्यानके सरोवरमें गिर गयी, तू दूसरी गेंद दे दे।' इस ध्वनिसे अमृतकी धारा बह चली, धारामें जननीका

मिथ्या स्वप्न बह गया, नीलमणिको हृदयसे लगाकर जननी पुलकित होने लगीं। इसी प्रकार कभी-कभी श्रीकृष्णके बाहर खेलने जानेपर अतीतकी सुखमयी स्मृति भी सजातीय उद्दीपन पाकर जननीके मनमें ऐसी गाढ़ी हो जाती है कि जननी अनुभव करने लगती हैं, मानो इसी क्षण वास्तवमें यह हो रहा है। इतना ही नहीं, तदनुरूप चेष्टा करने लगती हैं। अभी उस दिनकी बात है, वैशाखी अष्टमी थी; व्रजसुन्दरियोंसे परिवृत होकर व्रजरानी अपराजिता-पूजन कर रही थीं। इस अष्टमीकी भावनाने व्रजसुन्दरियोंमें भाद्रपद-अष्टमीकी स्मृति जगा दी; पूजाके बीचमें ही वे सब जोड़ने लगीं कि श्रीकृष्णचन्द्रकी द्वितीय वर्षगाँठमें कितना विलम्ब है। वे दिन गिन रही थीं और व्रजरानीके नेत्रोंके समक्ष प्रथम वर्षगाँठ नाच रही थी। क्षणभरमें ही व्रजेश्वरीकी वृत्ति जन्म-महोत्सवके समीप जा पहुँची और उसमें ऐसी डूबी कि यशोदारानी अपनेको उस समय प्रसूतिगृहमें बैठी अनुभव करने लगीं। वे देख रही थीं—मङ्गलसाजसे सजी—विविध शृङ्गार धारण किये सहस्र-सहस्र व्रजसुन्दरियोंकी अपार भीड़ उमड़ी आ रही है, मेरे नवजात शिशुको देखने आ रही है—

सुनि सिसु पिय प्यारी, नंद के धाम धारी।
कर गहि भरि भारी सौज आनंद थारी॥
उनमद गति राजैं, मत्त मातंग लाजैं।
मनिगन पट साजैं रंग सौंधे बिराजैं॥
मृदु तन बर बेली, संग सोहैं सहेली।
भुज भुज गहि झेली, काम की कोक चेली॥
मदन कल कला-सी, अंग सोभा प्रकासी।
छबि तड़ित लता-सी, सोहती मंद हाँसी॥
सुख बस मुख खोलैं, जातु राकेस जोलैं।
मधुकर मधु डोलैं, कंज के कोस मोलैं॥
उर भरि छबिसाला, मंडती मुक्तमाला।
मुखरित सुरजाला, किंकिनी रव रसाला॥
कटि तर दुति दैनी, डोलती चारु बैनी।
कल रव पिक बैनी, गीत गावैं सुनैनी॥
झल झल झल सोहैं, देखि को हैं न मोहैं।
धुनि सुनि मुनि छोहैं, मंजु मंजीर जोहैं॥
चलि सुवन निहारौ, चंद सोभा उज्यारौ।
तन मन धन वारौ, चित्त छोड़ै न प्यारौ॥
इकटक मुख राहैं, नैन औरै न चाहैं।
फिरि फिरि अवगाहैं, रूप पावै न थाहैं॥

रोहिणी बहिन! प्रसूतिगृहका द्वार सर्वथा उन्मुक्त कर दो, इन सबको जी भरकर मेरे पुत्रको देख लेने दो—व्रजरानी पूजा छोड़कर यह बोल उठीं। गोपसुन्दरियोंने ठठाकर हँस दिया, फिर भी व्रजेश्वरीको ज्ञान नहीं; पूजासम्भार हाथोंमें लिये शान्त बैठी हैं, मानो गोदमें पुत्रको लिये बैठी हों। पूजा स्थगित हो गयी; गोपिकाओंको कोई उपाय न सूझा, जिससे वे यशोदारानीको जगायें। आखिर हँसती हुई रोहिणीजी दौड़ी गयीं, ढूँढ़कर, श्रीकृष्णचन्द्रको खेल छुड़ाकर ले आयीं; उनसे पुचकारकर कहा—'बेटा नीलमणि! देख, तेरी मैया पूजासे रूठी बैठी है; तू ठोड़ी पकड़कर मना ले, मेरे लाल!' रोहिणी मैयाकी बात मानकर श्रीकृष्णचन्द्र अपने धूलिधूसरित अङ्गोंको जननीके वक्षःस्थलपर डालकर, चिबुक पकड़कर बोले—'री मैया! तू पूजासे क्यों रूठी?' अब जाकर कहीं मैयाको वस्तुस्थितिका भान हुआ। वे भी हँस पड़ीं। फिरसे स्नान कर पूजामें लगीं। अस्तु, यह श्रीकृष्णस्मृति ही—जिस समय मैया अत्यन्त आवश्यक कार्यमें, जो कार्य उनके बिना हो ही नहीं सकता, उसमें लगी रहनेके कारण श्रीकृष्णसे अलग रहती हैं, उस समय—उनके जीवनका आधार है। अवश्य ही रह-रहकर जब यह स्फुरण होता है कि मेरा नीलमणि मेरे समीप नहीं है, तब प्राणोंमें टीस-सी चलने लगती है। इसीलिये कितनी बार नीलमणिको मनुहार करते हुए मैयाने उन्हें समझाया भी है—

इन अँखियनि आगें तैं मोहन, एकौ पल जनि होहु नियारे।
हौं बलि गई, दरस देखे बिनु, तलफत हैं नैननि के तारे॥
औरौ सखा बुलाइ आपने, इहिं आँगन खेलौ मेरे बारे।
निरखति रहौं फनिग की मनि ज्यौं, सुंदर बाल-बिनोद तिहारे॥
मधु, मेवा, पकवान, मिठाई, ब्यंजन खाटे, मीठे, खारे।
सूरस्याम जोइ-जोइ तुम चाहौ, सोइ-सोइ माँगि लेहु मेरे बारे॥

किंतु चञ्चल श्रीकृष्णचन्द्र बाहर चले ही जाते हैं। जननी भी कुलदेव नारायणकी सेवाको, कभी-कभी अन्य कतिपय आवश्यक कार्योंको अपना परम कर्तव्य मानकर उन्मनी-सी हुई यथाविधि पूरा तो कर लेती हैं, पर कार्य पूरा हुआ कि बस, अजातपक्ष शावकके ध्यानमें निमग्न, नीड़की ओर वेगसे उड़ती हुई कपोतीकी भाँति अपने नीलमणिको ढूँढ़ने-देखने चल पड़ती हैं। आज भी नीलमणि खेलनेके लिये कालिन्दीकी ओर चले गये हैं, जननी भी नारायण-सेवाका कार्य करके उधर ही चल पड़ती हैं। शीघ्रतावश सिरसे अञ्चल उतरकर कंधपर आ गया है, वेणी स्खलित हो रही है, पर उन्हें कुछ पता नहीं। तोरणद्वारके समीप संनन्द-पत्नी मिलती हैं, पूछती हैं—'बहिन! इस प्रकार अस्त-व्यस्त हुई कहाँ जा रही हो?' किंतु जननीको अवकाश कहाँ कि ठहरकर उत्तर दें। चलते-चलते ही कह देती हैं—

खेलन कौं हरि दूरि गयौ री।
संग संग धावत डोलत हैं, कह धौं बहुत अबेर भयौ री॥

उद्यानसे उस पार तमालतरुके नीचे विशाल, वृषभ, जम्बी, देवप्रस्थ, वरूथप आदि वयस्योंसे सुरक्षित रहकर बलराम, दाम, सुदाम, वसुदाम, श्रीदाम आदिके साथ मेरा नीलमणि शान्तिपूर्वक खेल रहा है—यह देखकर जननीका हृदय शीतल हो जाता है। जननीके स्तनोंसे दूध झरने लगता है। वे दौड़कर श्रीकृष्णचन्द्रको हृदयसे लगा लेती हैं। श्रीकृष्णचन्द्र भी आज गोदमें शीघ्र ही चले आते हैं; क्योंकि आज वे सखाओंसे खेलमें किञ्चित् रूठ गये हैं। जननी एक बार वनकी ओर देखती हैं, फिर नन्दप्रासादके शिखरपर अवस्थित कलशकी ओर। ओह! खेलता हुआ नीलमणि आज इतनी दूर आ गया। आगे सघन वनस्थली है, न जाने कोई हिंस्रजन्तु इसमें घुस आया हो तो? जननी मन-ही-मन काँप उठती हैं। वे सोचती हैं, नहीं, नहीं, चाहे जिस उपायसे हो, इसे इतनी दूर आनेसे रोकना ही है। तत्क्षण मैयाको एक युक्ति भी सूझ जाती है। वे भयकी मुद्रा बनाकर बोल उठती हैं—

दूरि खेलन जनि जाहु लला मेरे, बन में आये हाऊ॥

अच्छा! वनमें 'हाऊ' आया है! श्रीकृष्णचन्द्र जननीकी बात सुनकर हँसने लगते हैं तथा हँसकर पूछते हैं—मैया! 'हाऊ' को किसने भेजा है?

तब हँसि बोले कान्हर मैया, कौन पठाये हाऊ।

जननीने मन-ही-मन सोचा—मेरी बातका पूरा प्रभाव तो नहीं हुआ, क्योंकि नीलमणि हँस रहा है; पर किञ्चित् भीति इसके नयनोंमें अवश्य आयी है। इसीलिये मैया फिर विविध रचना रचकर वनमें 'हाऊ' की विभीषिका पुत्रको बतलाने लगती हैं। श्रीकृष्णचन्द्र बड़े ध्यानसे सुनते रहते हैं। जननीका प्रयास इस बार सफल हो जाता है, नीलमणिके नेत्रोंमें भय भर जाता है। मैयाने देखा—अवसर सुन्दर है। वे बोल उठीं—'मेरे लाल! चलो, हमलोग शीघ्र भागकर अपने घर चले जायँ।' तो यह सुनते ही श्रीकृष्णचन्द्र मैयाकी गोदसे उठ खड़े हुए तथा भाग चलनेके लिये बलरामको भी अपने निकट बुलाने लगे—

चलौ न बेगि, सवारें जैयै भाजि आपनें धाम।
सूर स्याम यह बात सुनत ही बोलि लिये बलराम॥

भला, जिनके लिये श्रुतियाँ यह निर्देश करती हैं—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

(कठ० २। ३। ३)

'इन परमेश्वरके भयसे ही अग्नि तपता रहता है, इन्हींके भयसे सूर्य तप रहा है, इन्हींके भयसे इन्द्र, वायु एवं पाँचवाँ मृत्यु निर्धारित कार्य करते हुए दौड़ते रहते हैं।'

—उन परब्रह्म पुरुषोत्तम परमेश्वरका 'हाऊ' के भयसे भीत होकर भागनेका उपक्रम करना कितना आश्चर्यमय है! बाल्यलीलाविहारिन्! तुम्हारी इस योगीन्द्रमुनीन्द्रमनमोहनी लीलाकी जय हो!

अस्तु, भावपरिवर्तन होनेसे पूर्व ही श्रीकृष्णचन्द्रको घर ले चलना है, यह सोचकर मैया यशोदा शीघ्रतापूर्वक चलनेको उद्यत हुईं। श्रीकृष्णचन्द्र भी अँगुली पकड़कर चलने लगे। ठीक इसी समय बलरामके मुखपर एक